स्मृतियों में मानवाधिकार की अवधारणा

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
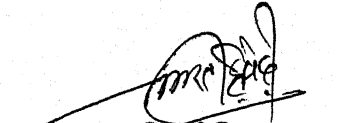
कला- संकाय के अन्तर्गत

संस्कृत विषय में

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

शोध-निर्देशक
डॉ० भारतेन्दु द्विवेदी
प्राध्यापक, संस्कृत

शुभा सिंह
गवेषिका
शुभा सिंह

शोध- केन्द्र

संस्कृत विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
हमीरपुर (उ०प्र०)

2005

डॉ० भारतेन्दु द्विवेदी
संस्कृत विभाग

मो0 9415170201
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
हमीरपुर (उ0प्र0)
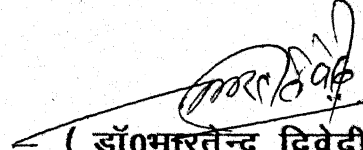
प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती शुभा सिंह , संस्कृत विषय में पी–एच0डी0 उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय , झांसी के पत्रांक बु0वि0 / प्रशा0 / शोध / 2002 / 6639–41 दिनांक 04–09–02 के द्वारा पंजीकृत हुई थी। इनके शोध का शीर्षक था " स्मृतियों में मानवाधिकार की अवधारणा"।

श्रीमती शुभा सिंह मेरे निर्देशन में आर्डिनेन्स 6 द्वारा वांछित अवधि तक शोध केन्द्र में उपस्थित रही । इन्होने शोध के सभी चरणों को अत्यन्त सन्तोषजनक रूप में परिश्रम पूर्वक सम्पन्न किया है।

मै इस शोध–प्रबन्ध को संस्कृत विषय में पी–एच0डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ ।

दिनांक : 9.12.2005

(डॉ0भारतेन्दु द्विवेदी)
शोध निर्देशक

घोषणा

मै घोषणा करती हूँ कि बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के अन्तर्गत संस्कृत विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध " स्मृतियों में मानवाधिकार की अवधारणा " मेरा मौलिक कार्य है। मेरे अभिज्ञान से प्रस्तुत शोध का अल्पांश अथवा पूर्णांश किसी भी विश्वविद्यालय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी अथवा अन्य किसी भी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

शुभा सिंह

दिनांक –

(शुभा सिंह)

शोधार्थिनी

अनुक्रमणिका

आभार

शोध-विधा के दुरूह लक्ष्य को अर्जित कर पाना मुझ जैसी अल्पज्ञ एवं अनुभवहीन शोधार्थिनी के लिए कठिन ही नहीं बल्कि असंभव कार्य था किन्तु मेरे लिए प्रणाम्य एवं श्रद्धेय शोध-विधा में पारंगत डा० भारतेन्दु द्विवेदी जी , प्राध्यापक, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय हमीरपुर की प्रज्ञा पीठ में मेरी अन्वेषणात्मक अध्यवसाय की साधना की पूर्ण हुई । आदरणीय डा० द्विवेदी जी के प्रेरणाप्रद निर्देशन , सद्प्रयासों की मै चिर ऋणी रहूँगी जिनकी असीम अनुकम्पा से मै यह शोध रूपी दुरूह लक्ष्य को प्राप्त कर सकी ।

राजनीति विज्ञान जैसे महत्वपूर्ण विषय में दक्षता रखने वाले डॉ देवेन्द्र नारायण सिंह , प्राध्यापक राजनीति विज्ञान , राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय , हमीरपुर ने किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में . लक्ष्य के पथ को पार करने के लिए जैसे ज्योतिर्यबिन्दु के दर्शन कराए उसके लिए आभार ज्ञापित करना किंचित सागर की प्यास बुझाने के लिए नीर देना जैसा होगा । उनके अकथ सहयोग ने शोध के इस महायज्ञ को पूर्णाहुति प्रदान की वे मेरे लिए सदैव श्रद्धेय रहेंगे ।

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय के प्राचार्य डा० रमेश चन्द्र जी की मै विनयावत हूँ । उनकी देव भाषा की विशेषज्ञता का अनुशीलन करने का अवसर मुझे समय-समय पर प्राप्त होता रहा।

वात्सल्यमयी सहयोग के लिए मैं डा० ए०के० सैनी , प्राध्यापक रसायन विज्ञान , राजकीय महिला महाविद्यालय अलीगंज ,लखनऊ , डा० परात्मा सिंह प्राध्यापक भूगोल का०न०रा०म० ज्ञानपुर, डॉ बलराम प्राध्यापक भूगोल , डा० एस०आर०रजक , प्राध्यापक भूगोल , डा० स्वामी प्रसाद, प्राध्यापक, समाजशास्त्र ,राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

हमीरपुर , के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिन्होने निराशा की घोप-घटा के मध्य आशा के ज्योतिन्पुंज के दर्शन कराए।

डा० रामलोचन ,रीडर राजनीति विज्ञान राजकीय महाविद्यालय , अंबारी -आजमगढ़ के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिनका सन्दर्भित साहित्य सहयोग मुझे समय-समय पर प्राप्त होता रहा है।

अनुपम कार्यशैली के पर्याय श्री बसन्त गुप्ता , कार्यालय अधीक्षक ,राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय , हमीरपुर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनका स्नेहिल छाँव शोध पथ को पार करने में प्राप्त होती रही है ।

पुस्तकीय सहयोग एवं सन्दर्भ ग्रन्थों के साथ-साथ अन्य शोध परक सामग्री की सुविधा प्रदान कर श्री विजय विक्रम सैनी , प्रभारी पुस्तकालयाध्यक्ष ने मेरे प्रज्ञा पथ को सहज कर दिया उनके प्रति मैं आभार ज्ञापित करती हूँ ।

मैं अपने पूज्य श्वसुर श्री रामबाबू सचान एवं सास श्रीमती शारदा देवी के प्रति नतशीश हूँ जिनकी वात्सल्यमयी छांव ने इस दुरूह पथ को पार करने में सकारात्मक भूमिका निभायी है।

मैं अपने सहचर श्री उपेन्द्र कुमार के प्रति अशेष श्रद्धा ज्ञापित करती हूँ जिन्होने गृहस्थ जीवन के दायित्वों से मुक्त रखकर इस सारस्वत लक्ष्य को पाने में सदैव ही मुझे प्रेरित किया।

हर क्षण ममतामयी आशीष प्रदान करने वाली प्रसवित्री श्रीमती राजवन्ती सिंह एवं जनयिता श्री वीरेन्द्र सिंह, प्राध्यापक, शारीरिक शिक्षा, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिनके सहयोगाभाव में यह शोध यज्ञ शायद ही पूर्ण हो पाता।

स्मृतिशेष अनुजात अभिषेक कुमार , जिसकी स्मृति से अश्रु विलगन होने लगता है, जिसकी स्मृतियाँ सदैव अमिट रहेगी उसे ही मेरा यह शोध-प्रबन्ध समर्पित है।

शोध प्रबन्ध के टंकण ,मुद्रण एवं रूप सज्जा एवं आवरण सज्जा के लिये श्री जनक सिंह , आर०बी० कम्प्यूटर्स, हमीरपुर तथा बाइडिंग कार्य हेतु अहमद बाइंडर्स, कानपुर बधाई के पात्र है ,जिनके योगदान से यह अभीष्ट पूरा हुआ । इसके अतिक्ति में उन सभी जाने-अनजाने सुधीजनों की ह्रदय से आभारी हूँ जिन्होनें इस शोध-परिपथ को सहज बनाया।

दिनांक -

शुभा सिंह
(शुभासिंह)
शोधार्थिनी

संकेत – सूची

1. अत्रि0 : अतिस्मृति
2. अत्रि सं0 : अत्रि संहिता
3. अथर्व0 : अथर्ववेद
4. अष्टादश 0 : अष्टादश स्मृति
5. आप 0 : आपस्तम्ब स्मृति
6. आप0धर्म 0 : आपस्तम्ब धर्मसूत्र
7. आऋ0गृ0सू0 : आश्वलायन गृह्यसूत्र
8. उप0 : उपनिषद्
9. उशन0 : उशनास्मृति
10. ऋग् 0 : ऋग्वेद
11. औश0सं0 : औशनस संहिता
12. औश0 : औशनस स्मृति
13. कात्या0 : कात्यायन स्मृति
14. काश्यप0 : काश्यप स्मृति
15. गृ0सू0 : गृह्यसूत्र
16. गोभिल0 : गोभिलस्मृति
17. गौतम0 : गौतम स्मृति
18. धर्म सू0 : धर्मसूत्र
19. तै0सं0 : तैत्तिरीय संहिता
20. दक्ष0 : दक्षस्मृति
21. देवल0 : देवलस्मृति
22. धर्म0इति0 : धर्मशास्त्र का इतिहास
23. धर्म0शा0सं0 : धर्मशास्त्र–संग्रह
24. ना0मनु0 : नारदीयमनुस्मृति
25. प्र0विष्णु0 : प्रथम विष्णु स्मृति

प्रथम – अध्याय

भूमिका

1. मानवाधिकार की पाश्चात्य अवधारणा
2. संयुक्त राष्ट्र संघ और मानवाधिकार
3. स्मृतियों का संक्षिप्त परिचय
4. स्मृतियों से पूर्व मानवाधिकार

भूमिका

मानव बुद्धि और विवेक का धनी है । विवेक वह तत्व है जो मानव को शेष प्राणी जगत से अलग एवं श्रेष्ठ स्थिति प्रदान करता है । यह विवेक उसे सत्–असत् की पहचान कर सर्वोत्तम जीवन जीने हेतु सक्षम बनाता है । इस उद्देश्य से मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में विविध व्यवस्थाओं व रीतियों का संचयन करता है जिससे वह अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं का सम्पूर्ण विकास कर स्वयं व स्वयं के समाज के लिये सर्वोत्तम जीवन स्तर व जीवन मानदण्डों की स्थापना कर सके । समाज , राज्य व इसी प्रकार की अन्य व्यवस्थायें मानव की इसी मूलभूत प्रवृत्ति के परिणाम है । इसी श्रृंखला की एक कड़ी है अधिकार और मानवाधिकार । मानवाधिकार का निहितार्थ स्पष्ट करने से पूर्व अधिकार का विवेचन अनिवार्य हो जाता है । वस्तुत : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह समाज में जन्म लेता है , जीवित रहता है , विविध कार्य निष्पादित करता है । समाज में उसके आवश्यकताओं की पूर्ति होती है , समाज में उसके व्यक्तित्व का विकास होता है और समाज में ही वह अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है । किन्तु यदि समाज में उसे जीवन की सुविधायें और विकास के अवसर न मिलें , तो उसका व्यक्तित्व अपूर्ण और अविकसित रह जाता है । इन अवसरों और सुविधाओं के अतिरिक्त उसे स्वतंत्रता की भी आवश्यकता पडती है जिससे वह अपनी इच्छानुसार मार्ग का अनुसरण करके अपने विकास के साधन खोज से। वे सुविधायें व परिस्थितियाँ जो व्यक्ति के विकास के लिये अपरिहार्य है वही , अधिकारों के रूप में परिभाषित की जाती है अर्थात अधिकार ऐसी अनिवार्य परिस्थितियाँ हैं , जो मनुष्य के विकास के लिये आवश्यक है । वह व्यक्ति की मांग है तथा उसका वह हक है , जिसे समाज , राज्य तथा कानून नैतिक मान्यता देते हैं तथा उसकी रक्षा करते हैं , इस सम्बन्ध में लास्की ने स्पष्ट संकेत किया है " अधिकार जीवन की वे परिस्थितियॉ होती हैं जिनके बिना

साधारणतया कोई व्यक्ति अपने उच्चतम स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकता "[1] इस सम्बन्ध में बार्कर ने स्पष्ट किया है कि व्यक्ति के मान्यता प्राप्त दावों को अधिकार का रूप मिल जाता है और ऐसी मान्यता ही उनके अधिकार बनाती है । इसलिये यदि हम यह भेद स्पष्ट करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि अधिकारों का दोहरा पहलू होता है , एक ओर अधिकार व्यक्ति का दावा है जो आत्म चेतना के स्वरूप से उत्पन्न होता है जिसमें उसके अपने आदर्श उद्देश्यों को प्राप्त करने की अनुमति दी जाती है , दूसरी ओर समाज द्वारा इस दावे को मान्यता प्रदान की जाती है और उसी में उसी के द्वारा इन उद्देश्यों का अनुसरण करने की नई शक्ति होती हैं ।[2] इसी तरह गिलक्रिस्ट का कथन है कि अधिकार समाज के सदस्यों के रूप में व्यक्तियों एवं उन मान्यताओं से उत्पन्न होते हैं कि समाज के लिये एक अन्तिम भलाई है जिसे सभी व्यक्तियों में अन्तनिर्हित शक्तियों के विकास से प्राप्त किया जा सकता है ।[3]

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अधिकार व्यक्ति का वह दावा है जिसे समाज और राज्य द्वारा मान्यता प्रदान किया जाता है। वास्तव में अधिकार का अर्थ अनिवार्य रूप से इसके स्वरूप के साथ जुड़ा हुआ है , जिसे निम्न बिन्दुओं में दर्शाया जा सकता है ।[4]

(1) अधिकार व्यक्ति की चेतना शक्ति में अन्तनिर्हित है और समाज सदैव उनकी कानूनी मान्यता के लिये जोर देता है जिससे व्यक्ति के नैतिक रूप से मान्य दावों को उपयुक्त संरक्षण मिल सकें , ऐसी स्थिति में राज्य एक ओर समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों और दूसरी ओर उन अधिकारों की व्यवस्था संभालता है जो अपनी सुरक्षा की मांग करते हैं । इस प्रकार अधिकारों का नैतिक स्वरूप होता है । वे अधिकार है जिन्हे

---

[1] Rights are those conditions of life with out which no man can seek in general to be himself at his best " Laski , Grammer of Polities, P.91
[2] E. Barker , Political theory in Englnad , Geoffrecy cumberledge , Oxford University press , London 1951 , P.25
[3] Gilchrist , R.N. principles of Political Science P.135
[4] जौहरी , जे.सी. , समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त , स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा0लि0 , नई दिल्ली 1994 पृ0 287–290

व्यक्ति महत्वपूर्ण समझता है , वे आत्म अनुभूति के लिये आवश्यक है और समाज उन्हें अपना निहित अनुमोदन प्रदान करता है ।

(2) अधिकार अभिन्न रूप से व्यक्तियों से जुड़े हुए हैं । अधिकार के साथ कर्तव्य अनिवार्य रूप से जुड़े हुए है क्योंकि अधिकार व्यवहार के नियमों का निर्धारण करते हैं ।

(3) अधिकारों का स्वरूप राजनीतिक पूर्व है अर्थात वे राज्य से पहले हो सकते हैं किन्तु समाज से पहले नहीं।

(4) प्राकृतिक और सामाजिक दृष्टि से अधिकारों का उपयोगी स्वरूप होता है । ये व्यक्ति और समाज दोनों के लिये समान रूप से महत्वपूर्ण हैं ।

(5) अधिकार केवल अमूर्त सत्तायें नहीं है बल्कि उनका उपयोग किया जाता है । व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि अपने अधिकारों का उपयोग करने की प्रक्रिया में किसी अन्य को कोई क्षति न पहुचायें । स्वाभाविक रूप से अधिकार का उपयोग कर्तव्य पालन की कामना करता है ।

(6) राज्य के कार्यों से भी अधिकारों का सम्बन्ध है । सिद्धान्त में व्यक्ति के अधिकार और राज्य के कार्य अलग–अलग हो सकते हैं किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है । ये दोनो परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है ।

(7) अधिकारों का विषय स्वतंत्रता , कानून न्याय, और प्रभुसत्ता जैसे अन्य महत्वपूर्ण विषयों से आवश्यक रूप से सम्बन्धित है ।

संक्षेप में अधिकार वे दावे हैं जो व्यक्तियों की निःस्वार्थ इच्छा पर आधारित है , जिससे पहले उन्हे समाज की नैतिक मान्यता और बाद में राज्य की कानूनी मान्यता प्राप्त हो क्योंकि वे व्यक्ति और समाज दोनों के लिये उपयोगी है और इतिहास की हर अवस्था में उनकी आवश्यकता रही है ।

१. मानवाधिकार की पाश्चात्य अवधारणा :-

अधिकार की संकल्पना बहुत व्यापक है । इसमें कई प्रकार और स्वरूप के अधिकारों की गणना की जाती है । इनमें प्रमुख है नागरिक अधिकार और मानव अधिकार । इनका अलग-अलग विवेचन कर दोनों के मध्य अन्तर को समझना प्रासंगिक होगा ।

नागरिक अधिकार :- नागरिक अधिकार ऐसे अधिकार हैं जो किसी राज्य के नागरिकों को केवल नागरिकता के आधार पर प्राप्त होते हैं , और जिन्हें , कानून द्वारा सुरक्षित किया जाता है । लोकतांत्रिक राज्यों में सभी नागरिकों की समान कानूनी हैसियत स्वीकार की जाती है , अतः नागरिक अधिकारों का निर्धारण करते समय नागरिकों के बीच किसी भी तरह का भेदभाव नहीं किया जा सकता । नागरिक अधिकारों में मुख्य रूप से स्वतंत्रता , समानता , शिक्षा सुरक्षा , सम्पत्ति आदि के अधिकार सम्मिलित किये जाते हैं , ये अलग-अलग राज्यों में राज्य विशेष की प्राथमिकताओं के आधार पर निर्धारित होते हैं । नागरिक अधिकारों में वे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिये मौलिक तथा अनिवार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता , मौलिक अधिकार कहलाते हैं ।

मानव अधिकार :- नागरिक अधिकारों के विपरीत मानव अधिकारों की अवधारणा व्यापक है । मानव अधिकार ऐसे अधिकार हैं जो मनुष्य को केवल मानव होने के नाते प्राप्त होने चाहिए , चाहे उसके लिये उपयुक्त कानूनी व्यवस्था की गई हो या न की गई हो । मानवाधिकारों की संकल्पना मानवता के दर्शन पर आधारित है। मानवाधिकार का स्रोत मानव प्रकृति है , मानवाधिकारी दर्शन के केन्द्र में व्यक्ति है । देखा जाय तो सभ्य मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि या अंतरात्मा की प्रेरणा से मनुष्य मात्र की विशेष गरिमा को मान्यता प्रदान करते हैं और यही विचार मानव अधिकारों की अवधारणा का मूल स्रोत है । मानव अधिकार नागरिक अधिकारों से इस अर्थ में भिन्न है कि नागरिक अधिकार

नागरिकता और राज्य की सीमाओं में आबद्ध होते हैं जबकि मानव अधिकारों की एकमात्र सीमा मानवता होती है । हो सकता है कि किसी राज्य में किसी अपराधी अथवा विक्षिप्त व्यक्ति को नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया हो फिर भी उसे उपयुक्त मानव अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार किसी देश में विदेशियों , शत्रुओं व युद्धबन्दियों को नागरिक अधिकार तो नहीं प्राप्त हो सकते किन्तु मानव अधिकारों से उन्हे भी वंचित नहीं किया जा सकता ।

वास्तव में मानव अधिकार वे अधिकार हैं जो मनुष्य की प्रकृति में अन्तर्निहित हैं और जिनके बिना कोई भी मनुष्य के रूप में जीवित नहीं रह सकता । इस प्रकार सामान्यतया मानव अधिकारों की अवधारणा के विषय में दो तर्क दिये जा सकते हैं – एक तो , मानव को मानव होने के नाते कुछ अधिकार प्राप्त हैं तथा दूसरे ये अधिकार मानव गरिमा के प्रतीक है । यह बात न्यू एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका द्वारा मानव अधिकार की इस परिभाषा से भी ध्वनित होती है । " Human rights that belong to an individual as a consequence of values that are universal in character and in same sense equally claimed for all human beings. Human right are understood to represent individual and group demands for the shaping and sharing of respect, tolerance and for bearance in the pursuit of other values" [5]

इस भावना की पुष्टि सोशल साइंस एनसाइक्लापेडिया से भी होती है , जिसमें कहा गया है ,

" Human right are rights which all persons hold by virtue of the human conditions. They are thuse not dependent upon grant or permission of the state and they cannot be withdrawn by fiat of the state. While laws under different national legal systems may vary , the human rights , to which each is entitled are right in international law For example , the human right to a fair trail is the same for a person who lives under a legal system of common law , Civil law or Roman Law States have the obligation

---

[5] The new encyclopedia Britanica , Vol 6, Micropaedia , Ready , Reference , Chicago, Ed, 15, founded 1768, P 137

to ensure that their discete legal system reflect and protect th international human rights which these within their Iunisication hold."[6]

एक अन्य स्थान पर मानव अधिकारों में मूलतः जीवन , स्वतंत्रता , शिक्षा और कानून के समक्ष समानता , भ्रमण की स्वतंत्रता , धर्म , संगठन, सूचना एवं राष्ट्रीयता के अधिकारों को मानव अधिकारों में सम्मिलित किया गया है ।[7]

इस प्रकार मानव अधिकार एवं नागरिक अधिकार में सैद्धान्तिक रूप से भिन्नता पायी जाती है । मानव ऐसा प्राणी है जो आधुनिक राज्य व समाज के गठन के पूर्व अस्तित्व में था और नागरिक अधिकार की उत्पत्ति राज्य के अस्तित्व में आने के पश्चात हुई । नागरिक अधिकार सकारात्मक एवं संवैधानिक विधि की उपलब्धि हैं जबकि मानवाधिकार का अस्तित्व राज्य के पूर्व विद्यमान था । वस्तुतः इसका स्वरूप मौलिक है।

मानव अधिकार और प्राकृतिक अधिकार :– मानवाधिकार विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व संवैधानिक विधि के रूप में अवस्थित है । मानवाधिकार की उत्पत्ति इतिहास के क्रमिक विकास का परिणाम है । प्राकृतिकविदों के अनुसार " मानवाधिकार" प्राकृतिक अधिकार का परिष्कृत एवं संशोधित रूप है। प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक विधि की उपज है । प्राकृतिक विधि का स्वरूप सार्वभौमिक है । यूनानी दर्शन में इस बात का स्पष्ट वर्णन है कि प्राकृतिक विधि ही मानवाधिकार का आधार है । यूनानी दर्शन में व्यक्ति , समाज तथा उसकी संस्थाओं का मार्गदर्शन प्राकृतिक विधि करती है ।

अरस्तु के बाद स्टोइक परम्परा के विचारकों ने प्राकृतिक विधि की अवधारणा को विकसित किया । रोमन काल में सिसरो तथा मध्यकाल में सन्त थामस , एक्वीनास के चिन्तन में प्राकृतिक विधि को मान्यता मिली । सिसरो के चिन्तन में प्राकृतिक विधि शाश्वत् सार्वभौमिक तथा अपरिवर्तनीय है ।[8] थामस एक्विनास के चिन्तन में प्राकृतिक विधि नैतिक मापदण्ड है । इसके आधार पर राजनीतिक कियाकलापों का आंकलन किया जा सकता है । एक्विनास का मानना है कि जो कानून न्याय का उल्लंघन करता

---

[6] The social Seience Encyclopedia . Second edition , London and New York 1996. P 385
[7] The New Hutchinson 20th Century encyclopedia . P. 636
[8] George H. Saine . A history of Political theory, New York, 1955, P. 164

है , सैद्धान्तिक रूप से वह अवैधानिक है। कानून यदि विवेक के मार्ग से विचलित होता हे तो वह कानून नहीं हिंसा है । कानून की वैधता प्रकृति के शाश्वत सिद्धान्त से सम्बद्ध है ।[9]

मानव अधिकारों का विचार जिस तर्क पर आधारित है उस तर्क के आधार पर प्रारम्भ में प्राकृतिक अधिकारों की संकल्पना प्रस्तुत की गई । टॉमस पेन ने प्राकृतिक अधिकारों को ही " मनुष्य के अधिकार " की संज्ञा दी ।[10] ये अधिकार इस तर्क पर आधारित थे कि ये मनुष्य की प्रकृति में ही निहित है । ये रीति–रिवाज , कानून राज्य या अन्य किसी संस्था की देन नहीं है । प्राकृतिक आधारों के सिद्धान्त के आरंभिक संकेत बारहवीं शताब्दी के यूरोप में मिलते हैं किन्तु इनका व्यवस्थित निरूपण सत्रहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। इस शताब्दी के प्रारम्भ में ह्यूगो ग्रोशियश ने तर्क दिया कि प्राकृतिक कानून का आधार मानव की विवकेशील प्रकृति में ढूढ़ना चाहिये । इसी तर्क के आधार पर उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नींव रखी ।

प्राकृतिक आधिकारों के विचार को तर्कसंगत रूप में ढ़ालने का श्रेय जान लॉक को है। लॉक ने तर्क दिया है कि " जीवन , स्वतंत्रता और सम्पत्ति का अधिकार मानव की विवेकशील प्रकृति का अभिन्न अंग है । यह व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही निहित है , इसे उससे अलग नहीं किया जा सकता , इसी अधिकार की रक्षा के लिये राज्य एवं राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण किया जाता है। अतः जब मनुष्य प्राकृतिक दशां से नागरिक समाज में प्रवेश करते हैं , तब वे अपने कुछ ही प्राकृतिक अधिकारों का त्याग करते हैं । त्याग वे इस शर्त पर करते हैं कि राज्य उनके मूल प्राकृतिक अधिकारों – जीवन स्वतंत्रता और सम्पत्ति की रक्षा करेगा।[11] इस प्रकार राज्य की स्थापना एक धरोहर या न्यास के रूप में की जाती है । यह न्यास अपने कर्तव्य में बंधा होता है। यदि वह राज्य अपने कर्तव्य की पूर्ति में विफल हो जाय तो मनुष्य उसे हटाकर नया राज्य (सरकार) स्थापित कर सकतें हैं । इस तहर लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों को परम

---

[9] वही पृ0 254

[10] ओम प्रकाश गावा , राजनीति –सिद्धान्त की रूपरेखा, नोएडा , 2002 पृ0 334

[11] वही , उद्धत , पृ0 335

पावन मानते हुए राज्य के विरूद्ध क्रान्ति के अधिकार को भी मान्यता दी है।[12] लॉक की इस प्रणाली के तीन परिणाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण है –

1. चूँकि प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत सभी मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं , इसलिये कोई भी व्यक्ति केवल अपनी सहमति से ही किसी अन्य व्यक्ति की राजनीतिक सत्ता को स्वीकार कर सकता है।
2. सरकार का मुख्य कार्य व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है।
3. व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकार सरकार की सत्ता की सीमा निर्धारित करते हैं। अतः जो सरकार अपने नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों की अवहेलना करती है , उसे आज्ञापलन कराने का कोई अधिकार नहीं रह जाता है। इस प्रकार नागरिकों के अधिकार एक प्रकार से राज्य (सरकार) के कर्तव्य बन जाते हैं ।

अमेरिकी स्वाधीनता की घोषणा (1976) में भी इस स्वयं सिद्ध सत्य की पुष्टि की गई थी कि सब मनुष्य जन्म से समान हैं , उनके जन्मदाता या सृजनकर्ता ने उन्हे कुछ अपरक्राम्य अधिकार प्रदान किये है , इनमें जीवन स्वतंत्रता और सुख की साधना का अधिकार सम्मिलित है। इन्ही अधिकारों की सुरक्षा के लिये सरकारों की स्थापना की जाती है , और उन्हे अपनी न्यायसंगत शक्ति नागरिकों की सहमति से प्राप्त होती है। यदि कोई सरकार इन अधिकारों को नष्ट करने की ओर अग्रसर होती है तो जनता उस सरकार को अपदस्थ कर सकती है।[13]

इसी प्रकार " मानव तथा नागरिक के अधिकारों की फ्रान्सीसी घोषणा (1789) के अन्तर्गत भी प्राकृतिक अधिकारों का दावा किया गया था । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ये अधिकार स्वयं प्रकृति की देन हैं । इनका न तो कोई हरण कर सकता है और न ही ये किसी दूसरे को हस्तान्तरित किये जा सकते है ।

---

[12] वही ।
[13] उद्धत , वही ।

इस विवेचनोपरान्त प्रश्न यह उठता है कि क्या प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को मानव अधिकारों का आधार माना जा सकता है ? वास्तव में प्राकृतिक अधिकारों और मानव अधिकारों में निम्न दो आधारभूत समानतायें हैं –

1. प्राकृतिक आधिकार और मानव अधिकार दोनों ही तर्क बुद्धि पर आधारित हैं ।
2. दोनो ही पूर्ण , अपरकाम्य और अहार्य हैं । किसी अन्य अधिकार को महत्व देने के लिये इनमें कोई कटौती नहीं की जा सकती ।

परन्तु इन समानताओं के बावजूद इन दोनो की प्रकृति में अन्तर करना आवश्यक है । प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त विश्व इतिहास के उस दौर में रखा गया जब औद्योगिक क्रान्ति को बढावा देने के लिये मानव सम्बन्धों को नये रूप में ढालना आवश्यक था । ये अधिकार तत्कालीन सामाजिक चेतना की उपज थे । इनका ध्येय नये उद्यमियों को राज्य के नियंत्रण से मुक्त करना और पुराने कृषि दासों (Serfs) को उद्योगों में काम करने के लिये स्वतंत्र कराना था । इन्हे प्राकृतिक अधिकार इसलिये कहा गया क्योंकि ये मानव की तर्क बुद्धि पर आधारित थे और यह तर्क बुद्धि स्वयं प्रकृति की देन थी । कहा जा सकता है कि ये अधिकार केवल लाक्षणिक दृष्टि से प्राकृतिक थे । यदि ये वास्तव में प्राकृतिक होते तो इनका विचार सत्रहवीं शताब्दी में न उभर कर प्राचीन काल से ही उदित हुआ होता ।

यह बात महत्वपूर्ण है कि मानव अधिकारों की अवधारणा प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा के साथ प्रकट नहीं हुई । यह अवधारणा स्पष्ट रूपेण मुख्यतः बीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रकट हुई । वस्तुतः द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मानव अधिकारों की समस्या सम्पूर्ण विश्व के लिये चिंता का विषय बन कर उभरी । न्यूरेम्बर्ग मुकदमों के दौरान जर्मनी के नाजियों के विरूद्ध युद्ध अपराधों के अलावा मानवता के विरूद्ध अपराधों के लिये भी मुकदमें चलाये गये । यहूदियों के विरुद्ध बर्बर अत्याचार को मानवता के विरुद्ध अपराध माना गया । इस कार्यवाही के साथ यह मान्यता जुड़ी थी कि ' मानव अधिकार ' अपने आप में मान्य हैं , ये किसी राज्य के कानून से ऊपर हैं और इनका उल्लंघन

मानवता के विरूद्ध अपराध'माना जायेगा। इसी श्रृंखला में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा " मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा" को पारित किया गया ।

मानव अधिकार अवधारणा का विकास :— मानवाधिकार अवधारणा का विकास निरंकुश शासकों व नागरिकों और प्रजाजनों के बीच सम्बन्धों में अवरोध अथवा संघर्ष का परिणाम है । जब–जब निरंकुश शासकों के विरूद्ध जन चेतना जागृत हुई है मानव अधिकारों को मान्यता मिली है । इस कड़ी में पहला नाम आता है " मैग्नाकार्टा" (1215) का 12 वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में जनता, शासक तथा पादरियों के मध्य संघर्ष चल रहा था । राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था । राजा की आज्ञा ही सर्वोपरि थी । नागरिक स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं था । दूसरी ओर पादरी धर्म की आड़ में सत्ता की मांग कर रहे थे। शासक–पादरी के मध्य संघर्ष में प्रजा के अधिकारों का हनन हो रहा था । परिणामस्वरूप 1215 ई0 में जनता, पादरी एवं शासक वर्ग के मध्य एक समझौता हुआ , जिसे मैग्नाकार्टा के नाम से जाना जाता है । इसके द्वारा पादरियों का अधिकार क्षेत्र चर्च तक सीमित कर दिया गया और नागरिकों को मूलभूत प्राकृतिक अधिकारों यथा विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आवागमन एवं आवास की स्वतंत्रता , मनमाने करों पर रोक सत्ता में भागीदारी की स्वतंत्रता निरंकुश गिरफ्तारी से स्वतंत्रता आदि को मान्यता प्रदान की गई ।[14] मैग्नां कार्टा का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा । यह एक विचारणीय प्रश्न बन गया कि राज्य सत्ता की शक्ति को सीमित किया जाय ताकि जनता अधिक अधिकारों का उपयोग कर सके । 1358 में हंगरी के सम्राट एन्ड्रूज द्वितीय ने प्राकृतिक अधिकारों तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का घोषणा पत्र " गोल्डेन बुल " जारी किया । इसके द्वारा राज्य की शक्तियों में कमी कर जनता की शक्तियों में वृद्धि की गई तथा उन्हे मतदान का अधिकार मिला ।[15]

इस श्रृंखला में तीसरा महत्वपूर्ण प्रयास था , 1628 का " पीटिशन ऑफ राइट्स " जो ब्रिटेन के राजा चार्ल्स प्रथम के शासन काल में लाया गया था । इसमें नागरिकों

---

[14] Compatons Encyclopedia , Voluiu , The univercity of Chicago , 1986 , P.45

[15] Everymans Encyclpedia , Edt. D.A. Girling Pub . J.M. Dent and Sons Ltd. London , 1975 , Vol 7 P. 611

के व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा राज्य द्वारा नागरिक अधिकारों के संरक्षण की बात कही गई है । विशेष रूप से इसमें कर प्रक्रिया में सुधार , निरंकुश गिरफ्तारी से मुक्ति , उपहार कर तथा ऋण पर कर छूट विधि द्वारा शासन की निरंकुशता पर रोक आदि विषय सम्मिलित किये गये थे ।[16] 1679 में चार्ल्स द्वितीय द्वारा " हैबियस कॉरपस " अधिनियम पारित किया गया जिसका उद्देश्य था बन्दी व्यक्ति के कारावास की वैधता पर शीघ्र विचार हो । इसी कड़ी में ब्रिटेन में ही 1689 में " बिल आफ राइट्स " पारित किया गया जो वास्तव में " हैबियस कॉरपस " का विस्तार था । इसका मूल उद्देश्य इस अधिनियम द्वारा उन लोगों को भी लाभ पहुँचाना था , जो आपराधिक आरोपो से अलग आक्षेपों में बन्दी बनायें गये थे । राजा द्वारा निर्णय लेने की समय सीमा निर्धारित कर दी गयी । राजा के विधि के निलम्बन की शक्ति पर संसद का नियंत्रण स्थापित कर दिया गया । यह अधिनियम ओरेन्ज के विलियम तथा मैरी स्टुअर्ट के समय लाया गया था ।[17]

18 वीं शताब्दी में मानवाधिकार अवधारणा के विकास में अमेरिकी स्वाधीनता संघर्ष , संविधान निर्माताओं और संविधान का महत्वपूर्ण योगदान रहा । इस समय उपनिवेशवादियों ने अपने दावों की पुष्टि प्राकृतिक विधि की संकल्पना तथा प्राकृतिक अधिकारों से की उपनिवेशों ने अपने पक्ष में लॉक के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया । 1776 ई० में " वर्जीनिया बिल ऑफ राइट्स " स्वीकार किया गया जिसमें घोषणा की गई कि " प्राकृतिक रूप से सभी व्यक्ति मुक्त व स्वतंत्र है " , वे कतिपय अन्तार्निहित अधिकार रखते हैं , जैसे जीवन व स्वतंत्रता के उपयोग का अधिकार , सम्पत्ति अर्जित करने , धारण करने तथा सुख प्राप्त करने का अधिकार ।[18] पुनश्च जुलाई 1976 ई में अमेरिका के 13 राज्यों ने सर्वसम्मति से " स्वतंत्रता की घोषणा " जारी की जिसमें व्यक्ति की समानता पर बल देते हुए जीवन , स्वतंत्रता तथा सुख प्राप्ति के अधिकारों का उल्लेख किया गया था । इन अधिकारों के संरक्षण का

---

[16] वही , भाग 9 पृ० 473

[17] International Encyclopedia of Social Science, USA , 1985 , P 369

[18] Vasak Karel , The International Dimensions of Human Rights , Vol I, Green wood Press, westport , connecticut , USA 1982,40

दायित्व सरकार पर था और सरकार के इन लक्ष्यों से विरत होने की स्थिति में उसें अपदस्थ कर नई सरकार के स्थापना की बात भी घोषणा में निहित थी ।

अमेरिकी संविधान के निर्माण के समय संविधान के मूल प्रारूप में मानव अधिकारों का उल्लेख नहीं था । किन्तु 15 दिसम्बर 1791 को अमेरिकी संविधान में किये गये प्रथम दस संशोधनों द्वारा मानवाधिकार को संविधान का एक भाग बना दिया गया । इन संशोधनों को " बिल ऑफ राइट्स " के नाम से जाना जाता है । इनके द्वारा नागरिकों के जिन अधिकारों को संवैधानिक संरक्षण प्राप्त हुआ वे हैं , वाक् स्वतंत्रता , विचार स्वतंत्रता , धार्मिक स्वतंत्रता , व्यक्ति के साथ संविदा की स्वतंत्रता , समानता , निष्पक्ष न्याय , निरंकुश बन्दीकरण तथा सजा, यातना व असाधारण दण्ड से मुक्ति आदि । इनके अतिरिक्त भोजन , शरण , स्वास्थ्य तथा शिक्षा , सभा करने, प्रेस , आन्दोलन व सरकारी काम–काज में भाग लेने का अधिकार भी सम्मिलित है ।[19]

इसी प्रकार 1789 में फ्रान्सीसी राज्य क्रांति के बाद गठित असेम्बली द्वारा मानव तथा नागरिकों के अधिकारों का फ्रान्सीसी घोषणा पत्र जारी किया गया । नव निर्मित संविधान द्वारा घोषित किया गया कि " मनुष्य स्वतंत्र जन्म लेता है , वह स्वतंत्र और समान अधिकारों के साथ रहता है ।"[20] फ्रान्सीसी घोषणा में मानव अधिकारों को प्राकृतिक , अपरक्राम्य और अहस्तान्तरणीय बताया गया ।

19 वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संधियों और संविदा के माध्यम से मानवाधिकार अवधारणा का विकास हुआ जिनमें से कुछ प्रमुख अधोलिखित है –

1. **कांग्रेस आफ वियना 1815** – पोलिश जनसंख्या के अल्पसंख्यक अधिकारों तथा धार्मिक व राजनीतिक अधिकारों को संरक्षण प्रदान किया गया ।
2. **पेरिस की संधि 1815** – द्वारा क्रीमीया युद्ध के पश्चात वाल्चिया , मालडेविया तथा सर्बिया की जनसंख्या को संरक्षण प्रदान किया गया ।

---

[19] World mark encyclo Pedia U.N. . world mark press Ltd. P. 332
[20] The Qxford Histery of the French Revolution clarendam press , Oxford 1989 P. 118

3. **जेनेवा अभिसमय 1864** – इसके द्वारा बीमार व घायल सैनिकों तथा युद्धबंदियों को राहत प्रदान की गई।
4. **बर्लिन की संधि 1878** – धार्मिक स्वतंत्रता व विधिक समानता का समर्थन ।
5. **दी जनरल एक्त ऑफ बर्लिन कान्फ्रेन्स आन सेन्ट्रल अफ्रीका 1855**
6. **ब्रूसेल्स कान्फ्रेन्स 1889** – उपर्युक्त दोनो संधियों द्वारा गुलामों के व्यापार पर प्रतिबंध आरोपित किया गया।
7. **सती उन्मूलन अधिनियम 1833 (भारत)**
8. **पेरिस की संधि 1898 – अल्पसंख्यकों को संरक्षण ।**
9. **हेग अभिसमय 1899 तथा 1907** – युद्ध के दौरान घायल सैनिकों , बन्दियों तथा नागरिक आबादी के संरक्षण से सम्बन्धित प्रावधान ।
10. **बर्न कान्फ्रेन्स 1906** – औद्योगिक नियोजन के दौरान महिलाओं के रात्रि कार्य पर प्रतिबंध ।

मानवाधिकार के संरक्षण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय वैधानिक व्यवस्था का प्रारम्भ प्रथम विश्व युद्ध के बाद होता है । इस युद्ध के पश्चात ही अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय ने मानवाधिकार संरक्षण के विषय में स्थायी एवं संस्थागत रूप से विचार करना प्रारम्भ किया । प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात यूरोप के मानचित्र पर नये राज्यों के उदय से राष्ट्रसंघ ने राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के संरक्षण हेतु योजना बनाई । वार्साय की संधि (1919) तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति बुडरो बिल्सन के चौदह सूत्री आदर्शों पर आधारित थी । इसका उद्देश्य था बहुसंख्यक जनता के साथ–साथ अल्पसंख्यकों को भी जीवन , स्वतंत्रता , मानव गरिमा तथा विधि के समक्ष समानता का अधिकार प्रदान करना । इसके अतिरिक्त 1922 में बने व 1924 में अंगीकार किये गये " गुलामी प्रथा के विरोध में अभिसमय " द्वारा दास प्रथा को समाप्त करने हेतु वचन बद्धता दोहराई गई ।

मानवाधिकार के संरक्षण में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने भी अनेक अभिसमयों को स्वीकार कर इस दिशा में अपना बहुमूल्य योगदान किया है । इसके द्वारा स्वीकार किये गये प्रमुख अभिसमय हैं –

1. बलात् श्रम से संबंधित अभिसमय 1930।
2. बलात श्रम के समापन से संबंधित अभिसमय 1957।
3. संघ बनाने की स्वतंत्रता तथा संगठित होने के अधिकार के संरक्षण से संबधित अभिसमय 1948 पर।
4. संगठित होने का अधिकार तथा सामूहिक सौदेबाजी अभिसमय 1949।
5. समान पारिश्रमिक अभिसमय 1951 ।
6. विभेद नियोजन एवं उपजीविका अभिसमय 1958 ।
7. समानता का व्यवहार अभिसमय 1962 ।
8. सामाजिक नीति अभिसमय 1962 ।
9. नियोजन नीति अभिसमय 1964 । आदि ।

वास्तविक अर्थों में मानवाधिकारों के सार्वभौमीकरण, निरीक्षण व संरक्षण का कार्य द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के छत्र–छाया में हुआ ।

2. संयुक्त राष्ट्र संघ और मानवाधिकार :–

प्रथम विश्व युद्ध के बाद की सन्धियों व संगठनों के निर्माण पर यदि तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो बिल्सन का प्रभाव रहा तो द्वितीय विश्व युद्ध व उसके बाद की प्रकियाओं को राष्ट्रपति रूजवेल्ट के विचारों ने प्रभावित किया। वास्तव में " मानव अधिकार " शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उन्होने ही किया। रूजवेल्ट ने चार मूलभूत स्वतंत्रताओं की घोषणा की थी – वाक् स्वतंत्रता , धर्म स्वतंत्रता , गरीबी से मुक्ति तथा भय से स्वतंत्रता। इन चार स्वतंत्रताओं के सन्देश के अनुकम में राष्ट्रपति ने घोषणा की " स्वतंत्रता से प्रत्येक मानव अधिकारों की सर्वोच्चता अभिप्रेत है । हमारा समर्थन उन्ही को है , जो अधिकारों को पाने के लिये या बनाये रखने के लिये संघर्ष करते हैं "।[21] इन चार स्वतंत्रताओं को बाद में अटलांटिक चार्टर में शामिल किया गया । इसी आधार पर मानव अधिकार शब्द का लिखित उल्लेख संयुक्त राष्ट्र चार्टर में पाया जाता है ।

[21] The United Nations and Human Rights , 1945 & 1953 blue book , Vol VII , U.N. Newyork , 1955

अक्टूबर 1944 में " डम्बर्टन ओक " सम्मेलन में मानवाधिकार को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया तथा यह निश्चित किया गया भावी अन्र्राष्ट्रीय संगठन " संयुक्त राष्ट्र" के अधीन एक आयोग कार्य करेगा ।[22] अप्रैल 1945 में सैन फ्रान्सिसको सम्मेलन में यह प्रस्तावित किया गया कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर में मानवाधिकार को एक पृथक विषय के रूप में शामिल किया जाय जिसमें आर्थिक , सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार सम्मिलित हों।

इस प्रकार विस्तृत विचारोपरान्त " संयुक्त राष्ट्र संघ " के रूप में जो अन्तराष्ट्रीय संगठन बना उसके चार्टर में मानवाधिकारों का स्पष्ट उल्लेख किया गया । सर्वप्रथम चार्टर की प्रस्तावना में मानव के मौलिक अधिकारों , मानव के व्यक्तित्व के गौरव तथा महत्व में तथा पुरूष एवं स्त्री के समान अधिकारों में विश्वास व्यक्त किया गया । अनु0 1 में कहा गया है " मानव अधिकारों के प्रति सम्मान को बढ़ावा देना तथा जाति , लिंग , भाषा या धर्म के बिना किसी भेदभाव के मूलभूत अधिकारों को बढ़ावा देना तथा प्रोत्साहित करना "। इसी प्रकार अुन0 13 में महासभा द्वारा " जाति , लिंग ,भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना सभी मानव को मानव अधिकारों तथा मौलिंक स्वतंत्रताओं की प्राप्ति में सहायता देने " की व्यवस्था है । अनु0 55 में प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्र संघ " जाति , लिंग , भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सभी के लिये मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रता को बढावा देगा ।" अनु0 56 में व्यवस्था है कि सभी सदस्य राज्य मानवाधिकारों तथा मानव स्वतंत्रताओं की प्राप्ति के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ को अपना सहयोग देंगे । अनु0 62 के अनुसार आर्थिक और सामाजिक परिषद के द्वारा "सभी के लिये मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान की भावना बढाने तथा उनके पालन के सम्बन्ध में सिफारिश करने " की व्यवस्था है ।

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं – एक तो उपर्युक्त प्रावधानों में कहीं भी मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रतओं की व्याख्या नहीं की गई है और दूसरे संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य इन अधिकारों और स्वतंत्रताओं को बढाना व प्रोत्साहित

[22] U.N. Action in Field of Human Rights , 1983 P. 1

करना मात्र है । परिणाम स्वरूप यह आपत्ति उठायी जाती रही कि इन प्रावधानों के अन्तर्गत मानव अधिकारों और स्वतंत्रताओं के पालन कराने की न तो संयुक्त राष्ट्र संघ की निश्चित जिम्मेदारी है और न ही इनके पालन के लिये कार्यवाही करने का कोई अधिकार है , इन आपत्तियों के निराकरण हेतु " मानव अधिकारों के लियें संयुक्त राष्ट्र आयोग " को सामान्य सिद्धान्तों की घोषणा और मानव अधिकार सन्धि पत्र के दो दस्तावेज तैयार करने का कार्य सौंपा गया ।

मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा :—

मानव अधिकारों के लिये नियुक्त संयुक्त राष्ट्र संघ आयोग द्वारा मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का प्रारूप लगभग तीन वर्षों के प्रयास के बाद तैयार किया , जिसे कुछ संशोधनों के साथ 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने सर्व सम्मित से पारित कर दिया । मानव अधिकारों की इस घोषणा में प्रस्ताव सहित कुल 30 अनुच्छेद हैं । इसकी प्रारस्तावना में " मानव जाति की जन्मजात गरिमा और सम्मान तथा अधिकारों " पर बल दिय गया है । इसके 30 अनुच्छेदों में उल्लिखित मानव अधिकारों का विवरण निम्नवत् है –

1. सभी मनुष्य जन्म से स्वतंत्र हैं और अधिकार और मर्यादा में समान हैं । उनमें विवेक और बुद्धि है , अतएव उन्हें एक दूसरे के साथ भातृत्व भाव युक्त व्यवहार रखना चाहिए।
2. प्रत्येक व्यक्ति बिना जाति , रंग , लिंग , भाषा , धर्म , राजनीतिक अथवा सामाजिक उत्पत्ति, अथवा किसी दूसरे प्रकार के भेदभाव के इस घोषणा में व्यक्त किये हुए सभी अधिकारों और स्वतंत्रताओं का पात्र है , इसके अलावा किसी स्थान अथवा देश के साथ जिसका वह व्यक्ति नागरिक है , राजनीतिक परिस्थिति के आधार पर भेद नहीं किया जायेगा , चाहे वह स्वतंत्र हो, संरक्षित हो अथवा स्वशासनाधिकार से विहीन हो , अथवा अन्य प्रकार से अल्पप्रभु हो ।
3. प्रत्येक व्यक्ति को जीवन , स्वाधीनता और सुरक्षा का अधिकार है ।

4. कोई व्यक्ति दासता या गुलामी में नही रखा जा सकेगा । दासता और दास व्यवहार सभी क्षेत्रों में सर्वथा निषिद्ध होगा ।
5. किसी व्यक्ति को क्रूर अथवा अमानुषिक दण्ड़ नहीं दिया जायेगा ओर न उसके साथ अपमान जनक बर्ताव किया जायेगा ।
6. प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होगा कि वह सर्वत्र कानून के अधीन व्यक्ति माना जाय ।
7. कानून के समक्ष सभी समान हैं और बिना किसी भेदभाव के कानून के सुरक्षा के अधिकारी हैं। यदि इस घोषणा के विरूद्ध भेद नीति मूलक आचरण किया जाय या किसी को ऐसे आचरण की प्रेरणा दी जाय तो उस अवस्था में सब समान रूप से रक्षा के अधिकारी हैं ।
8. प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या कानून द्वारा प्राप्त मौलिक अधिकारों को भंग करने वाले कार्यों के विपरीत राष्ट्रीय न्यायालयों के समक्ष संरक्षण पाने का अधिकार होगा ।
9. किसी व्यक्ति की अविहित गिरफ्तारी , कैद अथवा निष्कासन न हो सकेगा ।
10. प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायालय द्वारा अपने अधिकारों और कर्तव्यों के तथा अपने विरूद्ध आरोपित किसी अपराध के निर्णय के लिये उचित और सुलेमान तरीके से सुने जाने का पूर्णतः समान अधिकार है ।
11. (1) प्रत्येक व्यक्ति जिस पर दण्डनीय अपराध का आरोप है , तब तक निर्दोष समझा जायेगा जब तक उसे मुकदमें द्वारा जिसमें उसे अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिये उचित सुविधा प्राप्त हो रही है , अपराधी सिद्ध नहीं किया जायेगा।

    (2) जो अपराध , अपराध करने के समय किसी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार दण्डनीय नहीं था उसके अपराध के लिये अपराध के बाद बने हुए कानून द्वारा किसी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकेगा । जो दण्ड

अपराध करने के समय कानून के अनुसार वैध था उससे अधिक दण्ड बाद के बने हुए कानून के मन्तब्य के अनुसार नहीं दी जा सकेगी ।

12. किसी भी कौटुम्बिक , गार्हस्थिक और पत्र व्यवहार की गोपनीयता में मनमाना हस्ताक्षेप नही किया जायेगा और न ही उसके सम्मान और ख्याति पर आघात पहुचाया जायेगा ।

13. (1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने राज्य की सीमा के भीतर आवागमन और निवास की स्वतंत्रता का अधिकार होगा।

    (2) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी देश की जिसमें उसका भी देश सम्मिलित है , छोडने का अधिकार है और अपने देश में लौट जाने का अधिकार है ।

14. प्रत्येक व्यक्ति को प्रतारणा से बचने के लिये किसी भी देश में आश्रय लेने और सुख से रहने का अधिकार है।

    अराजनीति अपराध अथवा संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य एवं सिद्धान्त के विरूद्ध होने वाले कार्यो के फलस्वरूप मूलतः दण्डित व्यक्ति अधिकार से वंचित रहेंगे ।

15. (1) प्रत्यके व्यक्ति को राष्ट्रीयता का अधिकार है ।

    (2) कोई भी व्यक्ति अपनी राष्ट्रीयता से मनमाने ढंग से वंचित नहीं किया जा सकेगा और न उसको राष्ट्रीयता परिवर्तन के मान्य अधिकार से ही वंचित किया जायेगा ।

16. (1) वयस्क पुरूष और स्त्री को जाति , राष्ट्रीयता अथवा धर्म की सीमा के बिना विवाह करने और परिवार स्थापित करने का अधिकार प्राप्त है । उन्हे विवाह करने का , वैवाहिक जीवन में और वैवाहिक , सम्बन्ध विच्छेद के समान अधिकार प्राप्त हैं ।

    (2) विवाह के इच्छुक दम्पति की पूर्ण स्वतंत्रता और स्वीकृति पर विवाह सम्पन्न होगा ।

    (3) परिवार समाज की नैसर्गिक एवं मौलिक सामूहिक इकाई है और उसे समाज और राज्य द्वारा संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार है ।

17. (1) प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अथवा दूसरों के साथ सम्पत्ति रखने का अधिकार है।

(2) कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से मनमाने तौर पर वंचित नहीं किया जा सकता ।

18. प्रत्येक व्यक्ति को विचार अनुभूति तथा धर्म स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है । इस अधिकार के अन्तर्गत अपने धर्म या मत को परिवर्तन करने की स्वतंत्रता और अपने धर्म या मत का उपदेश , प्रयोग , पूजा और परिपालन सर्वसाधारण के सामने अथवा एकान्त में करने की स्वतंत्रता सम्मिलित है ।

19. प्रत्येक व्यक्ति को मत और विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता प्राप्त है । इसके अन्तर्गत स्वेच्छा से मत स्थिर करने और किसी भी भौगोलिक सीमा और माध्यम से विचार और सूचना मांगने , प्राप्त करने और देने की स्वतंत्रता सम्मिलित है ।

20. (1) प्रत्येक व्यक्ति को शान्तिपूर्ण ढंग से एकत्र होने और सभा करने की स्वतंत्रता है ।

(2) किसी व्यक्ति को किसी संस्था में सम्मिलित होने के लिये विवश नहीं किया जा सकता ।

21. (1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश के प्रशासन में स्वतंत्रतापूर्वक निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा भाग लेने का अधिकार है ।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को सरकारी सेवा में पहुँचने की समान सुविधा का अधिकार है।

(3) लोकमत ही प्रशासन के शासनाधिकार का आधार होगा । यह लोकमत निश्चित अवधि के बाद और सही तौर पर किये गये चुनावों द्वारा प्रकट होगा । ये चुनाव सर्वसाधारण के समान मताधिकार से और गुप्त मतदान द्वारा अथवा इसी प्रकार की किसी स्वतंत्र मतदान प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होंगे ।

22. प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते सामाजिक सुरक्षा का अधिकार रखता है और राष्ट्रीय प्रयत्न और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा एवं प्रत्येक राज्य

के संगठन और सांस्कृतिक अधिकारों को जो उसके गौरव और व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास के लिये आवश्यक है , प्राप्त करने का अधिकार रखता है।

23. (1) प्रत्येक व्यक्ति को काम करने , जीविका के लिये पेशा चुनने , काम की उचित एवं अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त करने और बेकारी से सुरक्षित रहने का अधिकार है ।

(2) प्रत्यके व्यक्ति को बिना भेदभाव के समान कार्य के लिये समान वेतन पाने का अधिकार है ।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य के लिये उचित और अनुकूल पारिश्रमिक पाने का अधिकार है , ताकि अपनी और अपने परिवार की मानवीय प्रतिष्ठा के अनुकूल सत्ता कायम रखना सुनिश्चित हो सके और साथ ही यदि आवश्यक हो तो सामाजिक संरक्षण के अन्य साधन भी प्राप्त हो सकें ।

(4) प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितों की रक्षा के लिये ट्रेड यूनियन कायम करने और उसमें सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त है ।

24. प्रत्येक व्यक्ति को विश्राम और अवकाश का अधिकार साथ ही साथ काम के घण्टों का समुचित निर्धारण और अवधि के अनुसार सवेतन अवकाश का अधिकार है ।

25. (1) प्रत्येक व्यक्ति को एक ऐसा जीवन स्तर कायम करने का अधिकार है जो उसके और उसके परिवार के सुख एवं स्वास्थ्य के लिये पर्याप्त हो । इसमें भोजन , वस्त्र , निवास स्थान, चिकित्सा सुविधा तथा आवश्यक समाज सेवाओं की उपलब्धि और बेकारी , बीमारी , शारीरिक अक्षमता , वैघव्य , बृद्धावस्था या अनियंत्रित परिस्थितियों के कारण जीविका का ह्रास सम्मिलित है ।

(2) प्रत्येक माता तथा शिशु के मातृत्व और शिशु की विशेष देखभाल और सहायता प्राप्त करने का अधिकार है । सभी बच्चे , चाहे वे विवाहित दम्पति की सन्तान हो अथवा जारज हों , समान रूप से सामाजिक संरक्षण का उपयोग करेंगे ।

26. (1) प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा पाने का अधिकार है । शिक्षा कम से कम प्रारम्भिक और मौलिक अवस्था में नि:शुल्क होगी । प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी । तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा की सामान्य उपलब्धि की व्यवस्था की जायेगी और योग्यता के आधार पर उच्च शिक्षा सभी समान रूप से प्राप्त कर सकेंगे ।

(2) शिक्षा का लक्ष्य मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और मानव अधिकारों एवं मौलिक स्वतंत्रताओं की प्रतिष्ठा बढाना होगा । शिक्षा द्वारा सभी राष्ट्रों और जातियों एवं धार्मिक समूहों में सद्भाव , सहिष्णुता और मैत्री की अभिवृद्धि की जायेगी और शान्ति कायम रखने के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यो को शिक्षा द्वारा बढाया जायेगा ।

(3) माता–पिता को अपनी सन्तान के लिये शिक्षा के प्रकार चुनने का अधिकार है

27. (1) प्रत्येक व्यक्ति को समाज के सांस्कृतिक जीवन में स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेने व कलाओं का आनन्द लेने और वैधानिक विकास से लाभान्वित होने का अधिकार है ।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को अपने किसी भी वैधानिक, साहित्यिक अथवा कलात्मक कृति के फलस्वरूप सैनिक एवं भौतिक हितों के संरक्षण का अधिकार है ।

28. प्रत्येक व्यक्ति ऐसी सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अधिकारी है , जिससे इस घोषणा में निर्दिष्ट अधिकारों और स्वतंत्रताओं की पूर्ण प्राप्ति हो सके।

29. (1) समाज के प्रत्येक व्यक्ति के कुछ ऐसे कर्तव्य हैं , जिनसे उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र एवं पूर्ण विकास संभव है ।

(2) अपने अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का उपभोग करने में प्रत्येक व्यक्ति को उन सीमाओं के भीतर रहना होगा , जो कानून द्वारा इस उद्देश्य से निर्धारित की गई है कि दूसरों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं का अपेक्षित सम्मान एवं प्रतिष्ठा हो सके और जनतांत्रिक समाज में नैतिकता , सार्वजनिक शान्ति तथा जनकल्याण हेतु समुचित आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके ।

(3) उन अधिकारों और स्वतंतत्राओं का संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के विरुद्ध किसी भी दशा में प्रयोग न किया जाय ।

30. इस घोषणा पत्र में दिये गये किसी भी आदेश के ऐसे अर्थ न लगाये जायें जिससे किसी राज्य के समूह अथवा व्यक्ति को किसी भी ऐसे काम में लगाने या करने का अधिकार मिले जिसका इस घोषणा पत्र में वर्णित अधिकारों और स्वतंत्रताओं में से किसी को नष्ट करने का उद्देश्य हो ।

संयुक्त राष्ट्र की इस सार्वभौम घोषणा का महत्व इस बात में है कि विश्व के अधिकांश राष्ट्रों ने पहली बार इस बात को स्वीकार किया कि ये अधिकार किसी विशेष जाति अथवा समुदाय के लिये न होकर प्रत्येक मानव के लिये हैं । वास्तव में यह घोषणा मानव स्वतंत्रता , गरिमा तथा समानता की बात करता है। यह आर्थिक कल्याण , सामाजिक विकास तथा सांस्कृतिक पूर्णता के साथ–साथ विश्व शान्ति एवं पारस्परिक सहकारिता की भी बात करता है । सं0रा0 महासभा के पूर्व अध्यक्ष ओदेलाजिज बाउटेफ्लिका के शब्दों में " हमारे संगठन के इतिहास में मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणाा एक प्रकाशमान पृष्ठ बना रहेगा तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के महान एवं अति उदार उपलब्धियों में होगा । यह मानव की मूल आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करता है, साथ–साथ यह विश्व बन्धुत्व की नगन्य आशा तथा मानव विवेक में अटल विश्वास की अभिव्यक्ति करता है।[23]

मानवाधिकार प्रसंविदा :–

मानवाधिकार के मानकों के विशदीकरण में मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा एक प्रारम्भिक कदम था। इस घोषणा में प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा नागरिक , राजनीतिक अधिकार व आर्थिक सामाजिक , सांस्कृतिक अधिकारों के परस्पर विरोधी सामाजिक दर्शनों के मध्य लम्बे विचार–विमर्श के पश्चात संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 21 वें अधिवेशन में दिसम्बर 1966 में सर्वसम्मति से मानवाधिकार सम्बन्धी दो प्रसंविदाओं को

---

[23] Josef T. Vambari , Annual Review of United Nations Affairs , 1974, P. 272

स्वीकार किया – "नागरिक व राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 " तथा " आर्थिक , सामाजिक , सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 "

नागरिक व राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा में 53 अनुच्छेद है । यह 6 भागों में विभक्त है । भाग 1,2,3 में व्यक्तियों के विभिन्न अधिकारों और स्वतंत्रताओं को सम्मिलित किया गया है । शेष 3 भाग प्रसंविदा के भागों में उपवर्णित अधिकारों के प्रभावी क्रियान्वयन की प्रकिया से संबन्धित हैं । प्रसंविदा के भाग 1 में व्यक्ति के आत्म निर्णय के अधिकार का वर्णन है । प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रतापूर्वक अपनी राजनीतिक स्थिति को निर्धारित करने तथा स्वतंत्रतापूर्वक अपने आर्थिक , सामाजिक व सांस्कृतिक विकास को जारी रखने का अधिकार है। , प्रसंविदा का भाग 2 राज्य पक्षकारों को प्रसंविदा के प्रति अनुबंधित करता है । राज्य पक्षकारों से अपेक्षा की गई है कि राज्य अपनी घरेलू विधियों में प्रसंविदा के विषयों को शामिल करेगा । प्रसंविदा का भाग 3 व्यक्ति के अधिकारों तथा राज्य पक्षकारों की बाध्यताओं से सम्बन्धित है जो कि निम्न है–

1. जीवन का अधिकार (अनु0 6)।
2. अमानवीय व्यवहार से मुक्ति (अनु0 7)।
3. दासता , गुलामी व बलात् श्रम से मुक्ति (अनु0 8)।
4. स्वतंत्रता व सुरक्षा का अधिकार (अनु0 9)।
5. बन्दी के साथ मानवतापूर्ण व्यवहार का अधिकार (अनु0 10)।
6. संविदाजन्य बाध्यताओं को पूरा करने की असमर्थता में कारावास से मुक्ति (अनु0 11)।
7. संचरण व निवास चयन का अधिकार (अनु0 12)।
8. विदेशी की मनमाने निष्कासन से मुक्ति (अनु0 13)।
9. ऋजु विचारण का अधिकार (अनु0 14)।
10. आपराधिक विधि का पूर्ण प्रभावी न होना (अनु0 15)।
11. विधि के समक्ष व्यक्ति के रूप में मान्यता का अधिकार (अनु0 16)।

12. एकांतता , परिवार , घर या पत्र व्यवहार का अधिकार (अनु0 17)।
13. विचार , अन्तःकरण व धर्म की स्वतंत्रता (अनु0 18)।
14. अभिमत व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (अनु0 19)।
15. युद्ध के प्रचार का प्रतिषेध (अनु0 20)।
16. शान्तिपूर्वक सम्मेलन का अधिकार (अनु0 21)।
17. समागम की स्वतंत्रता (अनु0 22)।
18. विवाह करने तथा परिवार बनाने का अधिकार (अनु0 23)।
19. शिशु अधिकार (अनु0 24)।
20. सार्वजनिक मामलों में भाग लेने , मत देने और चयनित किये जाने का अधिकार (अनु0 25) ।
21. विधि के समक्ष समानता (अनु0 26)।
22. अल्पसंख्यकों के अधिकार (अनु0 27) ।

आर्थिक , सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा में उन अधिकारों को सम्मिलित किया गया है , जिनकी पूर्ति उपलब्ध संसाधनो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहायता तथा सहयोग के माध्यम से ही संभव है । इस प्रसंविदा में 31 अनुच्छेद हैं और यह पांच भागों में विभक्त है । इसके अन्तर्गत सम्मिलित कुछ महत्वपूर्ण अधिकार निम्नवत हैं –

1. कार्य का अधिकार (अनु0 6)।
2. कार्य के न्याय संगत तथा अनुकूल स्थितियों का अधिकार (अनु0 7)।
3. श्रम संघ अधिकार (अनु0 8) ।
4. सामाजिक सुरक्षा का अधिकार (अनु0 9)।
5. मातृत्व तथा बाल्यावस्था विवाह तथा परिवार से संबधित अधिकार (अनु0 10)।
6. पर्याप्त खाद्यान्न , कपड़ा, निवास , जीवन स्तर का अधिकार तथा भूख से मुक्ति (अनु0 11)।
7. स्वास्थ्य का अधिकार (अनु0 12) ।

8. शिक्षा का अधिकार (अनु0 13) ।

9. विज्ञान तथा संस्कृति से संबधित अधिकार (अनु0 14) ।

इन प्रसंविदाओं में वर्णित अधिकार अत्याधिक नहीं है । इनका महत्व इस बात में है कि वे मानव परिवार के सभी सदस्यों की जन्मजात गरिमा तथा उनके समान अधिकारों को मान्यता देते हैं । दोनो ही प्रसंविदाओं में वर्णित अधिकारों के प्रवर्तन हेतु क्रमशः प्रसंविदा के भाग 4 तथा 5 व अनु0 28 से 45 व अनु0 16 से 23 तक उपाय बताये गये हैं ।

मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा तथा प्रसंविदा के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा इसके विशिष्ट अभिकरणों ने समय–समय पर अनेक ऐसे अभिसमय स्वीकार किये हैं जो मानवाधिकार संरक्षण व संवर्द्धन के उद्देश्य से प्रेरित हैं । इनमें से कुछ प्रमुख निम्न हैं –

1. नर संहार अभिसमय 1949।
2. सभी रूपों में जाति विभेद के समापन सम्बन्धो अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय 1965।
3. शरणार्थियों की प्रस्थिति से सम्बन्धित अभिसमय 1966 ।
4. राज्य हीन व्यक्तियों की प्रस्थिति से सम्बन्धित अभिसमय 1954 ।
5. राज्य विहीनता कम करने का अभिसमय 1961।
6. महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित अभिसमय 1952 ।
7. विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता से संबंधित अभिसमय 1952 ।
8. विवाह की सम्मति , विवाह की न्यूनतम आयु तथा विवाह के पंजीकरण संबंधी अभिसमय 1962 ।
9. दासता , दास व्यापार तथा दासता की ही भांति व्यवहार और संस्थाओं के समापन से संबधित अनुपूरक अभिसमय 1956 ।
10. मानव दुर्व्यापार और दूसरों के वेश्यावृत्ति के शोषण का उन्मूलन करने सम्बन्धी अभिसमय 1949 ।
11. रंगभेद के उन्मूलन और दण्ड से संबंधित अन्तराष्ट्रीय अभिसमय 1973 ।

12. मंत्रणा , भय, अन्य क्रूर , अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार या दण्ड के विरूद्ध अभिसमय 1984 ।
13. बाल अधिकारों से संबधित अभिसमय 1989 ।
14. सभी प्रवासी कामगारों व इनके परिवारों के अधिकारों के संरक्षण संबंधी अभिसमय 1990।

मानवाधिकार संरक्षण के अन्य प्रयास :–

संयुक्त राष्ट्र संघ के अतिरिक्त मानवाधिकार संरक्षण की दिशा में अन्य अनेक सरकारी व गैर सरकारी संगठनों ने भी महत्वपूर्ण योगदान किया । 1969 में सैन जौंस कोस्टारिका में अमेरिकी राज्यों के संगठन (OAS) के तत्वाधान में मानवाधिकार का अमेरिकी अभिसमय स्वीकार किया गया । इस अभिसमय में उद्देशियका के साथ तीन भाग तथा 82 अनुच्छेद है । भाग 1 में नागरिक और राजनीतिक अधिकार , विधि के समक्ष व्यक्ति की मान्यता का अधिकार , जीवन का अधिकार , यंत्रणा से मुक्ति का अधिकार , दासता से मुक्ति का अधिकार , विवरण का अधिकार , कार्योत्तर विधियों से संरक्षण का अधिकार , प्रतिकार का अधिकार , एकान्तता का अधिकार , अन्तःकला तथा धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार , उत्तर देने का अधिकार , सम्मेलन का अधिकार , संगठन का अधिकार , परिवार का अधिकार , नाम का अधिकार , राष्ट्रीयता का अधिकार , सम्पत्ति का अधिकार , संचरण तथा आवास का अधिकार , सरकार में भाग लेने का अधिकार , विधि के समान संरक्षण का अधिकार तथा न्यायिक संरक्षण का अधिकार सम्मिलित है । इसके भाग दो में अधिकारों के संरक्षण हेतु " मानवाधिकार का अन्तरअमरीकी आयोग " तथा " मानवाधिकार का अन्तरअमरीकी न्यायालय " स्थापित करने का उल्लेख है । अभिसमय का भाग 3 सामान्य तथा अल्पकालिक प्रावधानों से सम्बन्धित है । इसमें आर्थिक , सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार से सम्बन्धित प्रावधान है ।

जून 1981 में नैरोबी (केन्या) में अफ्रीकी एकता संगठन के तत्वाधान में " **मानव** तथा जन अधिकारों के अफ्रीकी चार्टर " को अंगीकार किया गया । इस चार्टर में तीन भाग तथा 68 अनुच्छेद हैं । चार्टर की मुख्य विशेषता यह है कि यह अधिकार के साथ–साथ कर्तव्यों का भी उल्लेख करता है । इसके भाग दो में अधिकारों के प्रर्वतन के उपाय बताये गये हैं । " मानव और जन अधिकारों के अफ्रीकी आयोग की स्थापना की गई । भाग 3 में सामान्य उपबन्ध दिये गये हैं ।[24]

जून 1993 में वियना में मानवाधिकारों पर एक विश्व सम्मेलन बुलाया गया । इस सम्मेलन में विश्व समुदाय ने समस्त विश्व में मानवाधिकारों को बढावा देने और उन्हे संरक्षण प्रदान करने के लिये महत्वपूर्ण कदम उठाये । वियना घोषणा और कार्यवाही कार्यक्रम के प्रति 171 देशों ने अपनी सहमति व्यक्त की तथा दिसम्बर 1993 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इसका अनुमोदन कर दिया । महासभा ने इस सम्मेलन के सुझावों को लागू करने और अधिक प्रभावशाली कदम उठाने का आह्वान किया । इस सम्मेलन की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ निम्न थीं

1. मानवाधिकार के लिये एक उच्चायोग के गठन की सिफारिश ।
2. मानवाधिकारों की सार्वजनिकता पर बल ।
3. पहली बार यह माना गया कि विकास का अधिकार एक अविभाज्य अधिकार है ।
4. आर्थिक , सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को अविभाज्य मानते हुए उनका एकीकरण और नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के साथ उनके सम्बन्ध को स्वीकार करना ।
5. लोकतंत्र को एक मानवाधिकार मानते हुए इसे सुदृढ़ करने एवं बढावा देने के साथ लोकतांत्रिक एवं कानून के शासन संबधी प्रक्रियाओं पर बल दिया गया ।
6. आतंकवाद की गतिविधियों को मानवाधिकार पर चोट माना गया ।

[24] See Human Rights – A complication of international instruments , Voll II, United Nations, New York P. 99

7. नस्लवाद और नस्ल भेदभाव के साथ असहिष्णुता और विदेशी द्वेष को समाप्त करने सम्बन्धी नीतियों और कार्यक्रमों पर बल दिया गया ।

वियना घोषणा और कार्यवाही कार्यक्रमों में बडे पैमाने पर होने वाले मानवाधिकारों, विशेषकर जनसंहार , जातीय विद्वेष और बलात्कार , आत्मनिर्णय , वर्तमान और भावी पीढ़ियों की पर्यावरण संबंधी आवश्यकताओं , जोखिम में रह रहे लोगों, विशेष रूप से अप्रवासी श्रमिकों , विकलांग व्यक्तियों और शरणार्थियों के साथ महिलाओं और बालिकाओं के मानवाधिकारों पर बल दिया गया । आत्म निर्णय के सम्बन्ध में इस सम्मेलन में माना गया कि " एक सरकार किसी क्षेत्र के सभी लोगों का बिना किसी भेदभाव के प्रतिनिधित्व करती है ।

इनके अतिरिक्त विश्व में अन्य अनेक संगठन हैं जो मानवाधिकार की संरक्षा में लगे हुए हैं । ये संगठन हैं –

1. वर्ल्ड फ्रेन्ड्स ऑफ अर्थ , एम्सटर्डम , 1871।
2. सेव द चिल्ड्रेन फंड , लंदन , 1919।
3. इन्टरनेशनल कमीशन फार ज्यूरिस्ट्स, 1952।
4. एमनेस्टी इन्टरनेशनल , लंदन , 1962।
5. माइनारिटी राइट्स ग्रुप , लंदन ,1965।
6. सरवाइवल इंटरनेशनल , 1969।
7. ह्यूमन राइट्स वाच , न्यूयार्क , 1978, आदि ।

पाश्चात्य जगत में मानवाधिकारों की अवधारणा " मैग्नाकार्टा " (1215) के साथ प्रारम्भ होती है । इसके बाद वहाँ इस प्रकार के जो भी प्रयास सामने आये वह निरंकुश , राजशाही को नियंत्रित कर मानव अधिकारों की सुरक्षा के प्रयास थे । विस्तृत रूप से और विधिवत यह अवधारणा संयुक्त राष्ट्र संघ के जन्म के साथ अपना प्रारूप ग्रहण करती है । जहाँ तक प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था का प्रश्न है । इस प्रकार के किसी अधिकार पत्र की व्यवस्था नहीं है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन भारतीय शास्त्रकार इस विषय से अनभिज्ञ थे अथवा इसकी उपेक्षा की । वास्तव में

प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था के संचालन राजा के अधिकार और कर्तव्य , सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में जिन विधानों का प्रचलन किया गया है वे स्वतः मानव अधिकारों की अभिरक्षा से प्रेरित हैं । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यूरोप और भारत दोनो स्थानों पर राजतंत्र का प्रचलन था और दोनो ही व्यवस्थायें राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार करती हैं , किन्तु यूरोप व ईसाई जगत जहाँ निरंकुश राजतंत्र का भी समर्थन करता है , वहीं भारतीय व्यवस्था में किसी भी रूप में निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन को स्वीकार नहीं किया गया है । धर्मशास्त्रों द्वारा मर्यादित शासन ही प्राचीन भारत का आदर्श रहा है । प्राचीन भारत को जीवन के विविध क्षेत्रों में शासन के कार्याधिकार को जिस प्रकार से नियंत्रित करने की व्यवस्था की गई है वे स्वतः मानव के विविध अधिकारों का रक्षण करते है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन्ही आयामों की विशेष रूप से स्मृतियों के सन्दर्भ में व्याख्या करने का प्रयास किया गया है ।

3. स्मृतियों का संक्षिप्त परिचय

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मूल में धर्म तत्व सन्निहित है । सुरक्षित धर्म ही मानव समुदाय का कल्याण कर सकता है । धर्म का स्रोत वेदों तथा स्मृतियों में होने के कारण ये दोनो भारतीय संस्कृति के मूल हैं । यह पूर्व जन्म के सद्कार्यो से ही संभव है कि व्यक्ति वेदों तथा स्मृतियों में वर्णित धर्म ज्ञान को प्राप्त कर पाता है । वेदों में उल्लिखित गंभीर विचारों को स्मृति–ग्रन्थों में सरल भाषा शैली में निबद्ध किया गया है । बुद्धि की अल्पता तथा जड़ता के कारण घोर कलियुग में वेदों की अपेक्षा स्मृतियों के माध्यम से धर्माचरण का ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षाकृत अधिक सरल है ।

स्मृति शब्द प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है । प्रथम अर्थ में यह वेदेतर ग्रन्थों यथा पाणिनि व्याकरण , श्रौत , गृह्य तथा धर्मसूत्रों , महाभारत , मनु आदि के ग्रन्थो का बोधक है किन्तु अन्य अर्थ में स्मृति तथा धर्मशास्त्र एक ही हैं । इस सम्बन्ध में स्वयं मनु ने कहा है कि वेद को तथा धर्मशास्त्र को स्मृति समझना चाहिए ।[25] व्याकरण के अनुसार " स्मृ " धातु से भाव अर्थ में "क्तिन्" प्रत्यय लगाने पर स्मृति शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है स्मरण । धर्माचरण सम्बन्धी नियमों का स्मरण करते हुए उनका अनुपालन करना स्मृति ग्रन्थों के अध्ययन का उद्देश्य है । अतएव स्मृतियों को धर्मशास्त्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है ।

स्मृतियों की संख्या के विषय में अनेक मत–मतान्तर हैं किन्तु यह स्पष्ट है कि सूत्रकाल (600 ई0पू0 से 300 ई0पू0) के पश्चात ही स्मृतियों की रचना की गई किन्तु कालान्तर में अनेक विद्वानों ने अपने–अपने नाम से स्मृति ग्रन्थों की रचना कर भारतीय वाङ्मय को समृद्ध किया । गौतम ने मनु को छोडकर अन्य किसी स्मृतिकार का नाम नहीं लिया है । बौधायन ने अपने को छोड़कर अन्य सात, वशिष्ठ ने पाँच और आपस्तम्ब ने दस धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख किया । मनु ने स्वयं को छोड़कर अत्रि , उतथ्यपुत्र ,

---

[25] श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः । (म0स्मृ0 2/10)

मृगु , वशिष्ठ , वैरवानस , और शौनक का नामोल्लेख किया है । इसी प्रकार याज्ञवलक्य ने बीस और परासर ने उन्नीस स्मृतिकारों के नाम लिये है । कुमारिलभट्ट के " तन्त्रवार्तिक " में अट्ठारह धर्म संहिताओ का उल्लेख हैं । पी0वी0 काणे ने अपरार्क के सन्दर्भ को उद्धृत करते हुए अट्ठारह स्मृतिकारों का नामोल्लेख किया है – मनु , बृहस्पति , दक्ष , गौतम , यम , अंगिरा , योगीश्वर , प्रचेता , शातातप , पराशर , संवर्त , उशना , शंख , लिखित , अत्रि , विष्णु , आपस्तम्ब और हारीत ।[26] शंख के मत में मनु , विष्णु , यम , दक्ष , उसना , अपस्तम्ब , अंगिरा , अत्रि , बृहस्पति , वशिष्ठ , कात्यायन , पराशर , व्यास , शंखलिखित , संवर्त्त , गौतम , शातातप , हारीत , याज्ञवलक्य , प्राचेता , – ये सब धर्म प्रवर्तन ऋषि थे ।[27] इसी प्रकार भारद्वाज स्मृति में मृगु , अत्रि , वशिष्ठ , शाण्डिल्य , रोहित , ऋतु , हारीत , गौतम , गर्ग , शंख , शातातप, अंगिरा , मारकण्डेय , माण्डव्य , कपिल , नारद , शुक्र , यमदग्नि , याज्ञवलक्य, विश्वामित्र , पराशर आदि का उल्लेख हैं ।[28] पराशर स्मृति में वशिष्ठ , कश्यप , गार्गी , गौतमी , चाँशस , अत्रि , विष्णु , संवर्त्त , आंगिरस , यक्ष , शातातप, हारित , याज्ञवलक्य, आपस्तम्ब , शंख, कात्यायन और प्रचेता का नामोल्लेख है ।[29] पैठीनस ने 36 स्मृतिकारों का उल्लेख किया है – मनु , अंगीरा , व्यास , गौतम , अत्रि, उशनस , यम , वशिष्ठ , दक्ष , संवर्त्त , शातातप , पराशर , विष्णु , आपस्तम्ब , हारीत , शंख , कात्यायन , मृगु , प्रचेता , नारद , योगी , बौधायन , पितामह , सुमन्तु , कश्यप , बभ्रु , पैठीनस , व्याध्र , सत्यव्रतो , भारद्वाज , गार्ग्य , वार्ष्यमणि , जाबालि , यमदग्नि , लौगाक्षि व ब्रह्म ।[30] काणे के अनुसार यदि बाद में आने वाले निबन्धो तथा निर्णय सिन्धु नीलकण्ठ एवं वीरमित्रोदय मयूख सूचियों को देखा जाय तो स्मृतियों की संख्या लगभग 100 हो जायेगी ।[31] स्मृति मुक्ताफल में तो 88000 ऋषियों को धर्म प्रर्वतक बताया गया

---

[26] काणे , पी0बी0 , धर्मशास्त्र का इतिहास , भाग । पृ0 41
[27] याज्ञ0 स्मृ0 1/4–5 , तथा वी0मि0 परिभाषा प्रकाश पृ0 16
[28] भारद्वाज स्मृति , 1/3–5 ।
[29] पराशर स्मृति , 1/12–16
[30] स्मृति चन्द्रिका , प्र0 1 वी0मि0 परिभाषा प्रकाश , प्र–15
[31] पी0पी0काणे पूर्वोक्त , प्र0 41

है ।[32] प्रस्तुत शोध प्रबंध के सन्दर्भ में कुछ प्रमुख स्मृतियों का संक्षिप्त परिचय , रचनाकाल , प्रतिपाद्य विषय , उनकी टीका आदि का संक्षिप्त विवरण प्रासंगानुकूल होगा–

1. मनुस्मृति :– मनुस्मृति के रचनाकार के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है क्योंकि प्राचीन साहित्य में मनु नाम के व्यक्ति का उल्लेख विभिन्न कालखण्डों में पाया जाता है । ऋग्वेद के प्रथम तथा द्वितीय मंडलो में मनु को मानव जाति का पिता कहा गया है ।[33] एक वैदिक ऋषि ने कामना की है कि वह मनु के मार्ग से च्युत न हो।[34] इसके अतिरिक्त तॉत्तिरीय संहिता तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण के अनुसार मनु ने जो कुछ कहा है वह सब औषध है । – यद् वैकि च मनुरवदत्तद भेषजम् । (तॅ0 सं0 2/2/10/2)

मनु तथा प्रलय की कथा शतपथ ब्राह्मण में प्रचलित है । महाभारत में मनु को प्रचेतस मनु तथा स्वयंभुव मनु के नाम से अभिहित किया गया है । अतः स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य के अतिरिक्त ईसा के आस पास प्रणीत ग्रन्थों में मनु का नाम प्रचलित था । अष्टाध्यायी के सूत्र 'मनोर्जाताव ञ्यतौषुक च "[35] से भी स्पष्ट होता है कि मनु शब्द पाणिनि के समय भी विद्यमान था जिससे उन्होने प्रत्यय विधायक सूत्र की रचना की। पाश्चात्य विद्वान बुहलर का विचार है कि पहले एक मानव धर्मसूत्र था जिसका रूपान्तर मनुस्मृति में हुआ है । किन्तु वास्तव में यह बुहलर महोदय की कल्पना है क्योंकि मानव धर्मसूत्र जैसा कोई ग्रन्थ अथवा उसका उद्धरण सम्पूर्ण संस्कृत जगत में कहीं उपलब्ध नहीं होता है ।[36] तथापि यह तो स्पष्ट है कि मनुस्मृति नामक धर्मशास्त्र किसी न किसी मनु के द्वारा ही प्रणीत है ।

---

[32] स्मृति मुक्ताफल , प्र0 81
[33] ऋगवेद (1/80/16 , 1/114/2 , 2/33/13)
[34] मानः , पथ , पित्रयान्मानवादधि – दूर नैष्ट परावत : (ऋग0 8/30/3)
[35] पाणिनि सूत्रे 4/1/16 (ऋगवेद 8/30/3)
[36] काणे पी0बी0 पूर्वोक्त , प्र0 46

मनु स्मृति का रचना काल :– मनुस्मृति के रचना काल के सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं है क्योंकि जिस प्रकार मनुस्मृति के रचनाकार के विषय में मत भिन्नता है उसी प्रकार इसके रचनाकाल के विषय में भी मत–मतान्तर है । इस बात का विवरण निम्न बाह्‌य तथा आन्तरिक प्रमाणों में स्पष्ट है –

1. बाह्‌य प्रमाण :– मनुस्मृति से भिन्न रचनाओं में जहां कही भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है , वे बाह्‌य प्रमाणों के अन्तर्गत आते हैं । मनुस्मृति के सबसे प्रचीन टीकाकार मेधातिथि है जिनका समय 900 ई0 के आस–पास माना जाता है । याज्ञवलक्य स्मृति के व्याख्याकार विश्वरूप ने मनुस्मृति के बारहों अध्यायों से उद्धरण लिये है । " वेदान्तसूत्र " के भाष्य में शंकराचार्य ने मनु को प्रमुखता से उद्धृत किया हैं । कुमारिल भट्ट द्वारा रचित 'तन्त्रवार्तिक' में मनुस्मृति को गौतम स्मृति से प्राचीन कहा गया है । 'मृच्छकटिक' में पापी ब्राह्मण के दण्ड के विषय में मनु को उद्धत करते हुए कहा गया है की पापी ब्राह्मण को मृत्युदण्ड न देकर राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए ।[37] वल्लभीराज धारसेन (571 ई0) के समय मनुस्मृति विद्यमान थी जिसका उपयोग अभिलेख में किया गया है । मीमांसक शबरस्वामी (500 ई0) ने जैमिनी सूत्र के भाष्य में मनुस्मृति का प्रमाण दिया है । भविष्य पुराण द्वारा उद्धत मनुस्मृति के श्लोकों की चर्चा अपरार्क तथा कुल्लूक ने की है । बौद्ध कवि अश्वघोष कृत ' वज्रकोपनिषद ' में कुछ ऐसे श्लोक हैं जो कि वर्तमान मनुस्मृति में भी प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार वर्तमान रामायण में भी मनु स्मृति के विचार देखने को मिलते हैं । इन विवरणों से स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी के बाद के ग्रन्थों में मनुस्मृति के सन्दर्भो का प्रायः उल्लेख होने से इसका रचनाकाल 200 ई0 के पूर्व होना चाहिये ।

आन्तरिक प्रमाण :– वर्तमान मनुस्मृति के स्वरूप से प्रतीत होता है कि यह याज्ञवलक्य स्मृति से बहुत पहले की रचना है क्योंकि मनुस्मृति में विभिन्न विषयों का मिश्रित , और अपेक्षाकृत कम व्यवस्थित रूप में वर्णन किया गया है जबकि याज्ञवलक्य स्मृति में विषयों

---

[37] अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत् ।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतै सह ।। (मृच्छकटिक 9/39)

का वर्णन सुव्यवस्थित विभागों के अन्तर्गत किया गया है । इसके अतिरिक्त यावलक्य की अपेक्षा मनुस्मृति में न्याय संबंधी विषयों का कुछ कम विवरण उपलब्ध होता है । याज्ञवलक्य का समय तीसरी शताब्दी में माना जाता है । अतः मनु को याज्ञवलक्य से पहले होना चाहिये । मनु ने यवन ,कम्बोज , शक, पहलव तथा चीनी आदि विदेशी जातियों का भी नामोल्लेख किया है , तथा इन जातियों में से यवन कम्बोज तथा गन्धार लोगों का विवरण अशोक के पंचम शिलालेख में भी मिलता है , अतएव मनु तृतीय शताब्दी ई0 पूर्व के पहले नहीं माने जा सकते । वर्तमान मनुस्मृति का विषय संगठन धर्मसूत्रों से बहुत आगे है । अतः इसकी रचना सूत्रकाल (600 ई0पू0 – 300 ई0पू0) के बाद ही हुई होगी ।

महर्षि मृगु द्वारा संशोधित वर्तमान मनुस्मृति के काल का ज्ञान महाभारत से भी होता है । बुहलर महोदय ने शोध के उपरान्त माना है कि महाभारत के बारहवें तथा तेरहवें पर्व के रचनाकार किसी मानव धर्मशास्त्र का ज्ञान था जो को आज मनुस्मृति के रूप में विद्यमान है। किन्तु किसी मानव धर्मशास्त्र की अनुपलब्धता उनकी मान्यता को खण्डित कर देती है । महाभारत में ' मनुरवृवीत् ' ' मनुराजधर्मा ' 'मनुशास्त्र' जैसे शब्दों से भी स्पष्ट है कि मनुस्मृति महाभारत से पहले की रचना है । अंगिरा , अगस्त , वेन नहुष , सुदास , पैजवन , निमि , प्रभु , भारद्वाज , विश्वामित्र आदि ऐतिहासिक नामों का उल्लेख मनुस्मृति में किया गया है किन्तु ये नाम वैदिक परम्परा में भी उल्लिखित हं। काणे महोदय का भी मत है कि मनुस्मृति महाभारत से पुराना ग्रन्थ है ।[38]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि मनु स्मृति की रचना सूत्रकाल के बाद तथा महाभारत से पहले अवश्य हुई होगी। इस प्रकार मनुस्मृति का रचना काल 200–300 ई0 पू0 के मध्य मानना चाहिये ।

मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय :– मनुस्मृति में 12 अध्याय तथा 2694 श्लोक है।[39] अध्यायकम से इसकी विषय वस्तु निम्नवत् है –

प्रथम अध्याय में वर्ण धर्म की शिक्षा के लिये ऋषियों का मनु के पास जाना , मनु द्वारा सृष्टि का विवरण देना , विराट की उत्पत्ति , विराट से मनु की उत्पत्ति , ब्रह्म द्वारा मनु को धर्मशिक्षा देना तथा मनु द्वारा मृगु आदि दस ऋषियों को धर्म की शिक्षा देना वर्णित है । इसके अतिरिक्त निमेष, वर्ष , युग , मन्वन्तर , आदि काल इकाइयों , चारो युगों में धर्म तथा धर्मावनति, चारो वर्ण के विशेषाधिकार ,कर्तव्य और आगे के अध्यायों के वर्ण्य विषय की सूची आदि का इसमें उल्लेख है ।

द्वितीय अध्याय धर्म तथा संस्कार विषयक अध्याय है जिसमें धर्मलक्षण , धर्म के उपादान अधिकारी और ब्रह्मवर्त आदि धार्मिक क्षेत्रों का वर्णन किया गया है । जातकर्मादि संस्कारों के साथ ब्रह्मचर्य धर्म का निरूपण भी इसी अध्याय में हुआ है ।

तृतीय अध्याय में ब्रह्मचर्य , विवाह स्त्रियों का महत्व , ग्रहस्थ–जीवन तथा आतिथ्यकर्म आदि का वर्णन है ।

चतुर्थ अध्याय में गृहस्थ के कर्तव्य , स्नातक की आचरण , अनध्याय तथा भक्ष्याभक्ष्य का वर्णन किया गया है ।

पंचम अध्याय के विषय हैं भोजन , जन्म–मरण में शुद्धि , सपिण्डत्व , शौच–अशौच , पत्नी तथा विधवा के कर्तव्य ।

छठवें अध्याय में वानप्रस्थ तथा परिव्राजक संबंधी विचार हैं तथा साथ ही गृहस्थ जीवन की प्रशंसा भी की गई है ।

सातवां अध्याय राजधर्म से सम्बद्ध है । इसमें राजा , मंत्री , दूत , दुर्ग , राजपुरूष , आदि का सविस्तार , वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त युद्ध के नियम , सामादि उपाय , कर–नियम , बारह राजाओं का मण्डल सिद्धान्त , संधि , आक्रमण आदि विषयों पर विचार किया गया है ।

आठवां अध्याय न्याय प्रशासन से सम्बद्ध है जिसमें अठारह प्रकार के व्यवहारों , न्यायालय (सभा) , दण्ड आदि का वर्णन है । इसमें चौर्य , ऋण–शपथ , साक्ष्य कय–विकय , माप–तौल , सीमा विवाद , कपटाचार बल प्रयोग , भृत्य तथा वेतन ,

वाक्पारूष्य , दण्डपारूष्य , साहस आदि विवादों तथा दोषी जनों के लिये दण्ड की व्यवस्था का वर्णन किया गया है ।

नवमं अध्याय में स्त्री–पुरूष विवाद , अधिकार , नियोग का औचित्य तथा अनौचित्य, दाय–विभाग , उत्ताराधिकार , स्त्रीधन , वसीयत आदि विषयों से संबंधित न्यायिक नियमों की चर्चा की गई है ।

दशम अध्याय में मिश्रित जातियों के आचार , यवनादि विदेशी जातियों , चारो वर्णो के विशेषाधिकार , कर्तव्य , आपर्द्धधर्म आदि का वर्णन किया गया है ।

दान , पातक , दोष , प्रायश्चित आदि का वर्णन एकादश अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है ।

द्वादस अध्याय में कर्म का विवेचन , क्षेत्रज्ञ , भूतात्मा , जीव, नरक , कष्ट , सत्वादि त्रिगुण , आत्म ज्ञान , प्रवृत्त और निवृत्त कर्म , निष्काम कर्म आदि का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त वेदस्तुति , तर्क का स्थान , शिष्ट एवं परिषद तथा मानवशास्त्र के अध्ययन का फल आदि विषयों पर भी इस अध्याय में चर्चा की गई है ।

2. **याज्ञवलक्य स्मृति** :– याज्ञवलक्य स्मृति के रचनाकार याज्ञवलक्य ऋषि हैं किन्तु इनके विषय में विद्वानों में अनेक मत–मतान्तर है । महाभारत (शा0प0 312) तक शतपथ ब्राह्मण (14/9/4/33) में यह कहा गया है कि याज्ञवलक्य वैशम्पायन के शिष्य थे । उन्होने वैशम्पायन से यजुर्वेद सहित अन्य वेदों की शिक्षा ग्रहण की थी किन्तु किसी कारणवश गुरू–शिष्य में मतभेद होने के कारण उन्होने अपने गुरू की विद्या को वान्त (वमन) कर दिया था तथा पुनः मध्यदिन में सूर्य की आराधना कर यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया । इसके अतिरिक्त ब्रहदारण्यक से यह सूचना मिलती है कि याज्ञवलक्य विदेह राज जनक के गुरू थे । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि याज्ञवलक्य वैदिक परम्परा के ऋषि थे । किन्तु यह कह पाना कठिन है कि याज्ञवलक्य स्मृति के प्रणेताक्या वही याज्ञवलक्य थे ।

किन्तु मिताक्षर टीकाकर ने प्रथम श्लोक के अवतरण में लिखा है – " याज्ञवलक्य शिष्य , कश्र्चिप्रश्नोत्तारूपं याज्ञवलक्य मुनि प्रणींत धर्मशास्त्रं संक्षिप्य

कथयामास – यथा मनु प्रणीतं मृगुः ।[40] इस आधार पर कुछ विद्वान वर्तमान स्मृति को याज्ञवलक्य के किसी शिष्य द्वारा प्रणीत मानते है ! उनकी दृष्टि में ' ज्ञेयं चारण्यकम् ' आदि श्लोक स्मृति को सुप्रतिष्ठित करने के उपाय मात्र है ।

प्राचीन परम्परा के अनुसार यजुर्वेद से सम्बद्ध वृहदारण्यक के याज्ञवलक्य ही इस स्मृति के प्रणेता हैं । अपरार्क में उल्लिखित – " अस्याश्च संहितायाः याज्ञवलक्यः प्रणेतेति व्याख्यात्रृणां स्मृतिरेव प्रमाणम् "[41] इस अंश से भी स्पष्ट होता है कि वर्तमान स्मृति के प्रणेता याज्ञवलक्य ही हैं । इसके अतिरिक्त याज्ञवलक्य स्मृति का एक श्लोक स्वयं सिद्ध करता है कि याज्ञवलक्य ही इसके प्रणेता हैं जिन्होने चित्तवृत्ति के निरोध के लिये आरण्यक का ज्ञान प्राप्त करने को कहा है –

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्याद वाप्तवान् ।
योगशास्त्रंच मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगम मीप्सता।।[42]

वास्तव में वर्तमान स्मृति का रचनाकार याज्ञवलक्य को न मानने का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता । किन्तु वैदिक याज्ञवलक्य और स्मृतिकार याज्ञवलक्य एक ही है यह कह पाना कठिन है । विविध प्रमाणों के आधार पर याज्ञवलक्यस्मृति का रचनाकाल 100 ई–पूर्व से 300 ई0 के मध्य माना जा सकता है ।

प्रतिपाद्य विषय :– याज्ञवलक्य स्मृति लघुकाय किन्तु सुव्यवस्थित है । इसमें प्राप्त होने वाले श्लोकों की संख्या के विषय में इसके टीकाकारों में मतैक्य नहीं है । विश्वरूप के अनुसार इसमें 1003 , विज्ञानेश्वर के मत में 1009 और अपरादित्य की व्याख्या में 1006 श्लोक पाये जाते हैं ।[43] यह तीन अध्यायों में विभक्त है जिसमें श्लोकों की संख्या प्रायः एक समान है ।आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित का वर्णन इसका प्रतिपाद्य विषय है। अध्यायानुसार इसकी विषय वस्तु निम्नवत है ।

---

[40] मिता0 या0 स्मृ0 1/1
[41] अपरार्क या0 स्मृ0 1/1
[42] या0स्मृ0 31/110
[43] या0स्मृ0 प्रस्तावना , पृ0 15

आचाराध्याय :— इस अध्याय में चौदह विद्यायें , धर्म के उपादान , उपनयन , ब्रह्मचर्य , विवाह , पुनर्विवाह , गृहस्थ आदि विषयों की चर्चा की गई है । इसी अध्याय में पंच महायज्ञ , आतिथ्य चारो वर्णो के कर्तव्य , आचार सिद्धान्त , भक्ष्याभक्ष्य , अनध्याय और शुद्धिकरण के विषय में व्यापक चर्चा की गई है । इसके अतिरिक्त दान , श्राद्ध , गृहशान्ति और विशेष रूप से राजधर्म का वर्णन भी इसी अध्याय में हुआ है ।

व्यवहाराध्याय :— यह न्याय व्यवस्था संबंधी अध्याय है जिसमें सभा (न्यायालय) , सभासद व्यवहार पद आदि का सविस्तार वर्णन किया गया है । इसके अन्तर्गत ऋण उपनिधि (Sealed Deposit) , साक्षी (Witness) , लेख्य (Paper Document) , दिव्य (Ordeal) , दायभाग (Partition of Inheritance) , सीमा विवाद (Settlement of disputed boundary questions) , संविद्वयतिकम (Breach of contract) आदि प्रकरणों पर सविस्तार चर्चा हुई है । इसके अतिरिक्त द्यूत , वाक्यापारुष्य (Defamation) , दण्डपारूष्य (Assantt), साहस (Aggressive action) , स्तेय (Theft) और स्त्री संग्रहण (Seduction) आदि विवादों का तथा दोषी जनों के लिये दण्ड की व्यवस्था का वर्णन करना इस अध्याय का प्रतिमान विषय है।

प्रायश्चित्ताध्याय :— इस अध्याय में अशौच के नियम , मृत–संस्कार , तर्पण , जन्म विषय , सूतक , अपत्कालीन आचार तथा जीविका आदि का वर्णन प्रमुखता से किया गया है । इसके अतिरिक्त इसमें वानप्रस्थ तथा सन्यास संबंधी नियमों का वर्णन भी हुआ है । इसी अध्याय में गर्भस्थ शिशु के विषय में विचार, मानव शरीर रचना, आत्मा और आत्म ज्ञान के साधन के उपर भी विचार किया गया है । इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें प्रायश्चितों का प्रमुखता से वर्णन किया गया है । इसके अन्तर्गत रोग–व्याधियों , नरक , महापातक , उपपातक आदि का प्रायश्चित और यम–नियम आदि

का वर्णन हुआ है । सान्तयन , कृच्छ , पराक , चान्दायणं आदि बृतों का भी इसमें प्रमुखता से वर्णन किया गया है ।

3. पराशर स्मृति :— पराशर स्मृति एक प्राचीन स्मृति है क्योंकि याज्ञवलक्य ने पराशर को प्राचीन धर्म प्रवक्ताओं में परिगणित किया है । विश्वरूप , मिताक्षरा, अपरार्क आदि ने भी पराशर को प्रमुखता से उद्धृत किया है । इससे सिद्ध होता है कि नवीं शताब्दी में पराशर स्मृति विद्यमान थी । इसके अतिरिक्त गरूड़ पुराण ने पराशर स्मृति के 39 श्लोकों को संक्षिप्त रूप से लिया है । इससे भी इसकी प्राचीनता की पुष्टि होती है इसे मनु की वृति का ज्ञान था , अतः यह प्रथम शताब्दी तथा पंचम शताब्दी के मध्य कभी लिखी गई होगी ।[44] वर्तमान पराशर स्मृति में कुल बारह अध्याय तथा 593 श्लोक हैं ।

4. बृहस्पति स्मृति :— याज्ञवलक्य ने बृहस्पति को बीस प्राचीन धर्मशास्त्रकारों में माना है । ये एक ऐसी स्मृति के रचनाकार है जो दुर्भाग्यवश सम्प्रति पूर्ण रूपेण उपलब्ध नहीं है । फिर भी डा० जॉली ने इसके 711 श्लोकों को एकत्र किया है ।[45] जिसके आधार पर इसमें वर्णित व्यवहार संबंधी अनेक सिद्धान्तों का ज्ञान होता है । बृहस्पति स्मृति मनु और याज्ञवलक्य के बाद की रचना प्रतीत होती है ।

5. कात्यायन स्मृति :— प्राचीन धर्मशास्त्रकारों में कात्यायन का नाम अत्यन्त प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है किन्तु इनकी व्यवाहर संबधी कृति आज अनुपलब्ध है । जीवानन्द संग्रह में 29 खण्डों और 500 श्लोको में एक कात्यायन ग्रन्थ है ।[46] यह ग्रन्थ वर्तमान में कात्यायन स्मृति के रूप में स्वीकृत है । कात्यायन नाम तो अत्यन्त प्राचीन तथा विख्यात है किन्तु वर्तमान स्मृति के रचनाकार कौन से कात्यायन है इस विषय में विवाद है । विश्वरूप तथा मेधातिथि ने कात्यायन को नारद और बृहस्पति के समान ही प्रमाणयुक्त माना है । इससे स्पष्ट होता है कि कात्यायन छठी शताब्दी के पूर्व के थे ।

---

[44] काणे पी०वी० ध०शार्क प्र० 35

[45] वही , पृ० 57

[46] वही पृ० 59

6. आड़ि.ग्रस स्मृति :– याज्ञवलक्य ने आड़ि.ग्रा को प्राचीन शास्त्रकार माना है , विश्वरूप से लेकर अपरार्क , मेधातिथि , हरदत्त आदि अनेक व्याख्याकारों ने अंगिरा से उद्धरण लिये हैं । किन्तु दुर्भाग्यवश सम्प्रति यह भी पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है । जीवानन्द के संग्रह में जो अड़िग्रस स्मृति है उसमें केवल 72 श्लोक है । इसमें अन्त्यज से भोजन लेने पर प्रायश्चित करने का वर्णन है । इसके अतिरिक्त गोवध तथा पशुहिंसा का वर्णन है । विधि पूर्वक जल पीना , उच्छिष्ट भोजन , वस्त्र धारण , दान आदि का इसमें सविस्तार वर्णन किया गया है ।

7. दक्षस्मृति :– याज्ञवलक्य की सूची में दक्ष भी एक धर्मशास्त्रकार हैं । विश्वरूप, मिताक्षरा , अपरार्क आदि ने समय–समय पर दक्ष के विचारों को प्रमुखता से उद्धृत किया है । दक्ष स्मृति के रचनाकाल के विषय में सप्रमाण कुछ भी कह पाना कठिन है । जीवानन्द संग्रह में विद्यमान दक्ष स्मृति में सात अध्याय और 220 श्लोक है जिनकी विषय वस्तु में धर्म , आचार , व्यवहार और प्रायश्चित सम्मिलित है । चारो आश्रमों , ब्रह्मचारियों द्विजों के धर्म तथा कर्म का इसमें विशुद्ध वर्णन है । इसके अतिरिक्त नौ कर्म , नौ विकर्म , नौ गुप्त कर्म और नौ सार्वजनिक कर्मो की चर्चा इसमें की गई है ।

8. यम स्मृति :– वशिष्ठ धर्मसूत्र और याज्ञवलक्य दोनो ने यम को एक प्राचीन धर्म शास्त्रकार माना है ।[47] जीवानन्द संग्रह में 781 श्लोको वाली एक यम स्मृति है किन्तु 'अष्टादश स्मृति' में संकलित लघु यम स्मृति में 99 श्लोक मिलते हैं । मिताक्षरा, हरदत्त, अपरार्क, आदि ने प्रायश्चित के संदर्भ में 'बृहदयम' का उल्लेख किया है किन्तु हरदत्त और अपरार्क ने लघुयम के भी नाम लिये है । अतः हो सकता है कि दोनो नाम एक ही ग्रन्थ के हो क्योंकि नामों का अर्थ एक ही है ।[48] दूसरी रचना मनु और

---

[47] वही पृ० 62
[48] वही पृ० 63

याज्ञवलक्य के बाद की है । इसमें मुख्य रूप से प्रायश्चित श्राद्ध तथा पवित्रीकरण का विधान वर्णित है ।

9. व्यास स्मृति :— व्यास स्मृति में चार अध्याय और 250 श्लोक है । इसके रचयिता के विषय में निश्चित ज्ञान नहीं है । स्मृति चन्द्रिका ने 'गद्यव्यास' अपरार्क ने 'वृद्ध व्यास' मिताक्षरा ने बृहद्व्यास आदि नामों का उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त 'महाव्यास' 'लघुव्यास ' और 'दानव्यास' आदि नाम भी प्रसिद्ध हैं ।[49] इस स्मृति का रचनाकाल विवादास्पद है । इसमें कृष्ण वर्ण के मृगों के देश और वाराणसी का उल्लेख भूमिका के रूप में हुआ है । तत्पश्चात श्रुति , स्मृति , पुराण आदि का महत्व प्रतिपादित किया गया है । इसमें वर्ण विभाग , अनुलोम–प्रतिलोम जातियों की संज्ञा कर्म संस्कार , विवाह , गृहस्थ , धर्म , स्त्री , तीर्थ–धर्म , तथा सांस्कृतिक जीवन का वर्णन किया गया है।

10. संवर्त स्मृति :— याज्ञवलक्य द्वारा घोषित 20 स्मृतिकारों में संवर्त का भी नाम है । परवर्ती टीकाकारों ने भी संवर्त से उद्धरण लिये हैं । जीवानन्द तथा आनन्दाश्रम के संग्रहों में संवर्त स्मृति में क्रमशः 226 और 230 श्लोक है । किन्तु अष्टादश स्मृति में 233 श्लोकों वाली संवर्त स्मृति को रखा गया है । इसके रचनाकाल के विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है । संवर्त स्मृति की विषय वस्तु धर्म तथा आचरण से संबंधित है।

11. हारीत स्मृति :— स्मृति चन्द्रिका में उद्धत 'स्वधनस्य यथा प्राप्तिः पर धनस्य वर्जनम् न्यायेन यत्र क्रियते व्यवहारः स उच्यते " इस अंश से ज्ञात होता है कि व्यवहार विषय पर हारीत ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया था। हारीत बृहस्पति और कात्यायन के समकालीन लगते हैं अर्थात् 400 से 700 ई0 के बीच कभी उनकी स्मृति प्रणीत हुई होगी ।[50] अष्टादश स्मृति में संकलित लघु हारीत नामक स्मृति में सात अध्याय हैं । इनमें

---

[49] वही पृ0 64
[50] वही पृ0 65

वर्णाश्रम धर्म बह्मचर्य धर्म, वानप्रस्थ धर्म , सन्यास धर्म आदि का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त न्याय प्रक्रिया तथा योग का वर्णन भी इसका प्रतिपाद्य विषय है।

संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसी भी स्मृतियां उपलब्ध हैं जिन पर विशेष व्याख्यान और अध्ययन नहीं हुआ है किन्तु प्राचीन भारतीय समाज के विषय में सम्यक ज्ञान प्राप्त करने में इनकी उपयोगिता कम नहीं है । इनमें से कुछ प्रमुख हैं –

1. अत्रिसंहिता	2. ऑशनस स्मृति
3. आपस्तम्वा स्मृति	4. शंख स्मृति
5. लिखित स्मृति	6. गौतम स्मृति
7. शातातप स्मृति	8. बुध स्मृति

4. स्मृतियों से पूर्व मानवाधिकार :— मनु स्मृति समस्त स्मृतियों में प्राचीनतम् मानी जाती है जिसका रचनाकाल 200 ई0 पू0 के आस–पास आँका गया है । यद्यपि मनुस्मृति और अन्य स्मृतियाँ प्राचीन भारतीय राजनीतिक , सामाजिक , धार्मिक व आर्थिक जीवन की व्यवस्थाओं की वृहद संहिताओं के रूप में अवतरित होती हैं तथापि इनसे पूर्व का भारतीय साहित्य भी कम समृद्ध नहीं था जिनमें जीवन के विविध विषयों को सुनियोजित करने का प्रयास किया गया है । इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैदिक साहित्य है । इसके अतिरिक्त कौटिलीय अर्थशास्त्र और महाकाब्यों – रामायण व महाभारत को भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि आधुनिक राजशास्त्र में राज्य की सत्ता और नागरिक स्वतंत्रताओं में सामन्ज्स्य स्थापित करने का सतत् प्रयास किया जाता है । प्रायः सभी विचारक नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं पर बल देते हैं और राज्य की सत्ता पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते हैं । इस उद्देश्य से विभिन्न देशों के संविधानों ने नागरिको के मौलिक अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख कर एक तरफ इस क्षेत्र में राजसत्ता को सीमित किया है तो दूसरी ओर नागरिक स्वतंत्रताओं के संरक्षण का मार्ग प्रशस्त किया है । यद्यपि प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने भी प्रतिबन्धित (सीमित) राजसत्ता का ही समर्थन दिया है किन्तु उन्होने नागरिक (प्रजा के) अधिकारों का

विवेचन नहीं किया है और उन्होने संभवतः ऐसा करना आवश्यक भी नहीं समझा । इसका कारण यह है कि उन्होन प्रमुख रूप से राजा के कर्तव्यों पर बल दिया है और इसका ही विशद् विवेचन किया है । किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिये कि प्राचीन भारतीय आचार्य अधिकारों के सिद्धान्त और इसके महत्व से अपरिचित थे । अल्टेकर महोदय का मत है कि प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने इस समस्या को बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण से देखा । वे प्रजा के अधिकारों के स्थान पर राज्य (राजा) के कर्तव्यों का ही वर्णन करते हैं । इसी से प्रजा के अधिकारों का अनुमान किया जा सकता हैं । इसी प्रकार से प्रजा के कर्तव्यों का निरूपण करते है । इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्य का प्रजा पर क्या अधिकार था । दोनो पक्षों के अधिकारों की दृष्टि से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में इस समस्या पर सुव्यवस्थित विचार नहीं किया गया , हमें उन अधिकारों का अनुमान ही परस्पर कर्तव्यों से करना पड़ेगा ।[51] प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में " मानवाधिकारों के सन्दर्भ में अल्टेकर महोदय के इसी दृष्टिकोण का अनुगमन किया गया है ।

वैदिक साहित्य प्राचीन भारत का सर्वाधिक पुरातन साहित्य माना जाता है । यदि यह कहा जाय कि प्राचीन भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के निरूपण का श्रीगणेश वैदिक साहित्य से हुआ है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । वैदिक साहित्य ने समाज के साथ–साथ राज्य , राजा और राजनीति के संस्थापन का भी कार्य किया है । इस प्रयास में इसमें यत्र–तत्र मानव के अधिकारों के उल्लेख भी विद्यमान हैं । सर्वप्रथम यदि हम ऋग्वेद के अधोलिखित मंत्र का शब्दशः विश्लेषण करें तो इसमें हम अनेक मानवाधिकारों की झलक पाते हैं –

मानोवधीरिन्द्र मा परा दा मा नः प्रियमोजनानि प्रमोषीः।
आण्डा मा नो मधवंछक निसेन्मा नः पात्रा भेत्सहाजानुषाणि ।।[52]

इस मंत्र में इन्द्र जो कि राज्य शक्ति का प्रतीक है से प्रार्थना की गई है कि

[51] अल्टेकर , अनंत सदाशिव , प्राचीन भारतीय शासन पद्धति , भारतीय डार लीडर भवन , इलाहाबाद 1987 पृ0 51
[52] ऋग0 1/7/19/3

(क) मानो वधः अर्थात हमारा बध मत कर , यह जीवन के अधिकार को प्रतिध्वनित करता है जिसमें व्यक्ति अपना सम्पूर्ण जीवन जीने की अपेक्षा (प्रार्थना) करता है ।

(ख) मा प रा दा मा नः अर्थात हमें अपने से दूर मत कर । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को राज्य का संरक्षण सदा प्राप्त रहें । व्यक्ति अराष्ट्रीय और अनागरिक कभी न घोषित किया जाये । यह व्यक्ति के नागरिक के रूप में सुरक्षा की गारंटी प्रदान करता है ।

(ग) (1) मा न : प्रिया भोजनानि पृमोषी , अर्थात हमें अपने प्रिय भोज्य पदार्थो से जो श्रम से उपार्जित है वंचित न कर, व

(2) मा नः पात्रा अर्थात हमारे जो पात्रादि हैं वे हमसे कोई न छीने ।

ये दोनो उद्धरण सम्पत्ति के मौलिक अधिकार की ओर संकेत करते हैं ।

4. सहजानुषाणि अर्थात जो हमारे सहज स्वभाव के अनुकूल मित्रता है उस मित्रता को राज्य नष्ट न करे । यह संगठन के अधिकार को प्रतिध्वनित करता है ।

वेदों में स्वाधीनता को राष्ट्रीय अधिकार बताया गया है ।[53] यजुर्वेद में राष्ट्र को स्वतंत्र रखने का अधिकार दिया गया है ।

स्वराजस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम् अनुस्मै दत्त । यजु0 10.4

ऋगवेद में कहा गया है कि देवता या किसी भी महान शक्ति को राष्ट्र की स्वतंत्रता छीनने का अधिकार नहीं है

न मिनन्ति स्वराज्यम् । न देवो नाध्रिगुर्जन : । श्रग0 8.93.11

राष्ट्रीय स्वाधीनता के अधिकार के साथ–साथ वैदिक साहित्य ,सामाजिक समानता के अधिकार का भी समर्थन करता है , ऋग्वेद में सामाजिक समरसता के लिये आवश्यक बताया गया है कि छोटे–बड़े , ऊंच–नीच , का भेदभाव भुलाकर समाज में भाईचारे की भावना से रहें । ऐसा करने से ही समाज की उन्नति होगी ।

" अज्येष्ठासों अकनिष्ठास एते , सं भ्रातरो वावृधु : " सौमगाम ,। ऋग 5.60.5

ऋग्वेद में ही सह–अस्तित्व की भावना स्थापित करने का भी उपदेश दिया गया है और बताया गया है कि तुम्हारे विचार , मन और ह्रदय समान हो ।

---

[53] डा0 कपिलदेव द्विवेदी , वेदों में मानव के अधिकार और कर्तव्य , आर्य जगत , 7 जुलाई 2002, पृ0 76

" समानी व आकूतिः समाना ह्रदयानि व : ।

समानमस्तु वो मनो , यथा वः सुसहासति ।।" श्रृग0 10.161.4

इस प्रकार हम देखते है कि फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति को प्रभावित करने वाले आदर्श Liberty , Equality और Fraternitiy वैदिक काल से ही भारतीय समाज व व्यवस्था के प्रेरक रहे हैं। । इसके साथ ही वेद शोषण के विरूद्ध भी आवाज उठाते हैं और राजा से निर्देश देते हैं कि ऐसी व्यवस्था करें जिससे सबल निर्बलों या निर्धनों का शोषण न कर सके और उनसे अनुचित रूप से कर वसूल न कर सके ,

" यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे । अथर्व 3.29.3

वैदिक साहित्य स्वतंत्रता व समानता जैसे राजनीतिक व सामाजिक अधिकारों के साथ–साथ सम्पत्ति के आर्थिक अधिकार का भी विवेचन करते हैं। वेद प्रत्येक व्यक्ति को धन अर्जित करने और उसका संग्रह करने का अधिकार प्रदान करते हैं । धन–संग्रह व धन की सुरक्षा के लिये योगक्षेम शब्द आया है । यजुर्वेद में कहा गया है कि हम धन के स्वामी हो और हमें योगक्षेम प्राप्त हो –

क – वयं स्याान पतयो रयीणाम् । यजु0 10.20

ख – योगक्षेमो नः कल्पताम् । यजु0 22.22

इसके साथ ही वैदिक साहित्य स्त्रियों के अधिकारों के उल्लेख से भरा पड़ा है । उसे गृहस्वामिनी और कुल पालक कहा गया है ।[54] उसे युद्ध में जाने का अधिकार था।

" संहोत्र स्म पुरां नारी समनं वाव गच्छति । " अथर्व0 20.126.10

यहां युद्ध स्थल के लिये समन शब्द का प्रयोग किया गया है । ऋग्वेद में अविवाहित पुत्री को पुत्र के बराबर दायभाग का अधिकारी बताया गया है ।

" अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा , सदसस्त्वामिये भगम् ।

कृधिः प्रकेतमुप मास्या भर, दद्धि भाग तन्वो येन मामह :।। श्रृंग 2.17.7

---

[54] वही पृ0 79

ऋग्वेद के ही एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि यदि पुत्र नहीं है तो पुत्री ही सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी ।

" न जामये तान्वो रिक्थयमारैक् चकार गऋ सनितु र्निधानम् । श्रंग0 3.31.2

इस प्रकार वैदिक साहित्य मानवाधिकार से संबंधित विवरणों से भरा पड़ा है ।

प्राचीन भारत के राजशास्त्रियों में कौटिल्य का स्थान सबसे ऊँचा है और उसे शासन कला तथा राजनीति का महान प्रतिपादक माना जाता है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है , जिसका एकमेव विषय राजनीति है । सलेटोंरे के अनुसार प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है क्योंकि उसमें व्यावहारिकता , यथार्थवाद व इहलौकिकता है और उसने देश को सुदृढ और केन्द्रीय शासन प्रदान किया ।[55] कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजनीति के हर पक्ष का व्यावहारिक विश्लेषण किया गया है । मानवाधिकारों का पहलू भी इससे अछूता नहीं है । कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य मात्र पुलिस राज्य न था । अर्थात उसका कार्य शान्ति व सुरक्षा तक ही सीमित न होकर प्रजा का कल्याण व सम्पूर्ण विकास भी था । इस प्रकार के राज्य में व्यक्ति को सुरक्षा के साथ–साथ विकास व जन कल्याण से सम्बन्धित अधिकार प्राप्त थे । कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि राजा को चाहिये कि वह प्रजा के सुख में सुख और प्रजा के हित में ही अपना हित समझे , बात तो यहं है कि राजा का अपना प्रिय और हितकारी कोई कार्य पृथक नहीं होता ।[56]

रामायण और महाभारत प्राचीन भारत के दो ऐसे महाकाव्य हैं जो भारत के सर्वोच्च प्रतिनिधि काव्य माने जा सकते हैं और हिन्दू समाज के प्रेरक आदर्श रहे हैं । दोनो ही महाकाब्यों में प्रजा की रक्षा और पालन राजा के कर्तव्य बताये गये हैं । स्पष्टतः राज्य से सुरक्षा और पालन का अधिकार प्रजा को प्राप्त था ।

---

[55] BA Salectore . Ancient Indian Political Though and institutaions , & 50.54

[56] प्रजा सुखे सुख राज्ञः प्रजानां चाहिते हितम् ।
नात्मप्रिय हित राज्ञः प्रजानां तु प्रियहितम ।। अर्थ 0 अधिकरण 1 , 19.39

द्वितीय–अध्याय

सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार

1. सामाजिक अधिकार
2. राजनीतिक अधिकार

सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार

मानव अधिकारों में सामाजिक व राजनीतिक अधिकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । यदि यह कहा जाय कि ये अधिकार मानव जीवन के केन्द्र हैं , सारतत्व हैं , व्यक्ति और व्यक्तित्व के उन्नायक हैं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । इनका सम्बन्ध वास्तव में व्यक्ति के जीवन व जीवनचर्या से है । ये अधिकार सीधे–सीधे सभ्य एवं संगठित समाज से सम्बन्धित हैं । इन्हें हम निम्न वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं –

1. सामाजिक अधिकार
2. राजनीतिक अधिकार

1. सामाजिक अधिकार :– सामाजिक अधिकारों से तात्पर्य है – निश्चित स्तर की आर्थिक और सामाजिक खुशहाली का अधिकार तथा सम्भयता और संस्कृति की धरोहर को दूसरों के साथ मिल जुलकर प्रयोग करने का अधिकार । आधुनिक लोकतंत्रों में नागरिकों को सामाजिक व आर्थिक अधिकार प्रायः कल्याणकारी राज्य की छत्रछाया में प्रदान किये जाते हैं जिसका उद्देश्य सरकारी तन्त्र को उन नीतियों के निर्माण एवं कार्यान्वयन में लगाना और उनके लिये आवश्यक वित्तीय व्यवस्था करना था जो नागरिकों के सामूहिक सामाजिक हितों को बढ़ावा देती हो । विलियम बेवरिज (1874–1963) की प्रसिद्ध बेवरिज रिपोर्ट के अनुसार कल्याणकारी राज्य का ध्येय पाँच महाबुराइयों का अंत करना था – अभाव , रोग , अज्ञान , दरिद्रता और बेकारी ।[1] सामाजिक अधिकारों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से जिन अधिकारों को सम्मिलित किया जा सकता है , वे हैं –

1. जीवन का अधिकार
2. समानता का अधिकार
3. स्वतंन्त्रता का अधिकार
4. अभाव एवं दरिद्रता से मुक्ति का अधिकार

[1] ओमप्रकाश गावा , राजनीति – सिद्धान्त की रूपरेखा , मयूर पेपर बैक्स , नौएडा 2002 , पृ0 328

5. शिक्षा का अधिकार

6. सार्वजनिक सहायता का अधिकार, एवं

7. धर्म व अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का अधिकार ।

आधुनिक युग के उपर्युक्त सामाजिक अधिकारों के सन्दर्भ , स्मृतिकालीन समाज में अन्वेषित करने से पूर्व भारत की सामाजिक व्यवस्था का अन्वीक्षण प्रासंगिक होगा ।

आधुनिक अधिकारों का वर्गीकरण
नैतिक अधिकार
वैधानिक अधिकार
सामाजिक अधिकार
राजनीतिक अधिकार
मतदान का अधिकार
निर्वाचित होने का अधिकार
सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार
समानता का अधिकार
स्वतंत्रता का अधिकार
सम्पत्ति का अधिकार
रोजगार का अधिकार
शिक्षा का अधिकार
जीवन का अधिकार
परिवार का अधिकार
व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार
धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
समुदायिक निर्माण का अधिकार
राजनीतिक समानता का अधिकार
सामाजिक समानता का अधिकार
आर्थिक समानता का अधिकार
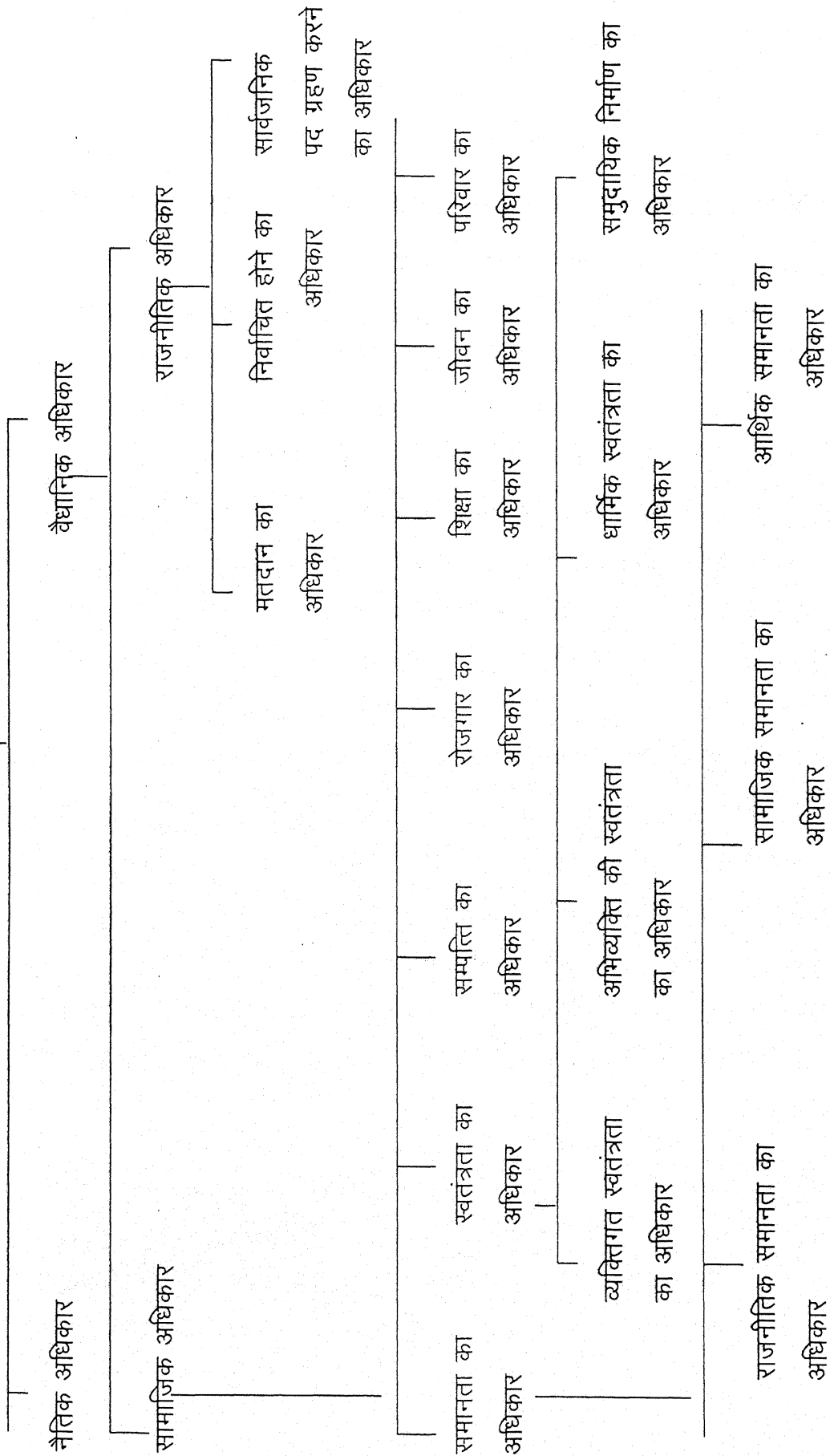
प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक अधिकार :–

वैदिक समाज भारत का प्रथम व प्राचीनतम् समाज था । इस समाज की विचारधारा के अनुसार समाज मनुष्यकृत न होकर दैवी संस्था है । यह समाज भौगोलिक बन्धनों से मुक्त है। यह किसी देश अथवा काल विशेष से सम्बद्ध नहीं है । इसका सम्बन्ध मानव मात्र से है । मानव सृष्टि के साथ ही समाज की सृष्टि हुई । मानव की समस्त जीवन क्रियायें समाज में ही प्रारम्भ होती हैं और उसका अन्त भी समाज में ही होता है। ऋग्वेद , यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनुसार समस्त ब्रह्मण्ड ही विराट् पुरूष है।[2] इस विराट् पुरूष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सूर्य उसका नेत्र है , चन्द्रमा उसका मन है , अग्नि उसका मुख है , वायु उसका प्राण है , अन्तरिक्ष उसकी नाभि है , द्युलोक उसका सिर है , पृथ्वी उसका पैर है , और दिशायें उसके कान है ।[3] इसी विराट् पुरूष से समाज का निर्माण हुआ है।

ऋग्वेद , यजुर्वेद और अथर्ववेद के मंत्र उद्घोषित करते हैं कि सम्पूर्ण समाज को चार प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया गया है। विराट् पुरूष से इनकी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण उसका मुख है , राजन्य (क्षत्रिय) उसकी भुजाएं हैं , वैश्य उसकी ज़ंघा या मध्यभाग है और शूद्र उसके पैर हैं।[4] इन चारो वर्णो को चतुवर्ण या चातुवर्ण्य कहा गया । यह चातुर्वर्ण्य भारतीय समाज का आधार है । इसी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के आधार पर भारतीय समाज का संगठन और विकास हुआ है। इस दृष्टि से समाज एक शाश्वत संस्था है।

---

[2] ऋग0 10 , 90। यजु0 अध्याय – 31 । अथर्व0 19.6

[3] चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत् ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च , प्राणाद् वायुरजायत ।।
नाभ्या आसीदन्तरीक्ष शीष्णो द्यौः समवर्तत।
पदम्यां भूमिर्दिशः श्रोतात् । ऋग0 10.90 , 13–14

[4] ब्राहमणोऽस्य मुखमासीद् , बाहु राजन्यः कृत :
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पदम्यां शूद्रो अजायत ।। ऋग0 10.90.12

इसी प्रकार मनु स्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि की रचना के साथ—साथ सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति का उल्लेख आया है । मनु के अनुसार यह संसार प्रलय काल में तम (प्रकृति) में लीन अज्ञेय (न जान सकने योग्य) था । आकाशादि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए ।[5] उस परमात्मा ने अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से ध्यान कर सबसे पहले जल की ही सृष्टि की और उसमें शक्ति रूपी बीज को छोड़ा । वह बीज हजारों सूर्यो के समान , प्रकाश वाला अण्डा हो गया और उससे सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करने वाले ब्रह्म उत्पन्न हुए।[6] फिर विनाश रहित उस ब्रह्म से महाशक्ति युक्त सात पुरूषों (महत्तव , अंहकार तथा शब्द आदि पंच तन्मात्राओं) की सूक्ष्म मूर्ति के अंशो से विनाशशील यह संसार उत्पन्न हुआ ।[7]

इसी संसार को मनीषियों ने अविनाशी भगवान का मूर्तिमान रूप (विराट् पुरूष) माना है। इस प्रकार जगत के प्राणियों के असंख्य मुख मिलकर उस विराट् पुरूष का मुख और उनकी बाहुओं का समावेश उस विराट् पुरूष की दोनो बाहु हुए। इसी प्रकार जगत के प्राणियों के अन्य अवयवों के समावेश से उस विराट् पुरूष के तत्सम्बन्धी अवयवों की कल्पना की गई , इस दृष्टि से जगत एक अवयवी है जिसका निर्माण अवयवों से हुआ है । इस विराट् पुरूष ने अपने शरीर के दो भाग किये , एक अर्द्ध भाग से नर और दूसरे अर्द्ध भाग से नारी जगत की उत्पत्ति हुई ।[8] लोक वृद्धि के लिये उसी विराट् पुरूष (ब्रह्म) ने मुख , बाहु , उरू और पैर से कमशः ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य और शूद्र की सृष्टि की।[9]

---

[5] ततः स्वयं भूभर्गवान व्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ।। मनु 1.6

[6] मनु 1.9—11

[7] मनु 1.13—16

[8] मनु0 1.32

[9] लोकानां तु विवृद्धयर्थ मुखबाहूरूपादतः ।
ब्राह्मणं ,क्षत्रिय , वैश्य ,शूद्र च निरवर्तथत ।। मनु0 1.31

समाज का यह निर्माण कुछ विशिष्ट गुणों से प्रेरित होता है । ये गुण हैं – ज्ञान (बुद्धिबल), रक्षण शक्ति , प्रजापालन या भरण पोषण की सामर्थ्य श्रम शक्ति और मौलिक एकता । समाज में ब्राह्मण ज्ञान या बुद्धि का प्रतीक है , क्षत्रिय रक्षण शक्ति है , वैश्य प्रजापालन या उसके भरण पोषण की सामर्थ्य है , शूद्र श्रमशक्ति है । इसी को यजुर्वेद ने इस प्रकार रखा है , ब्रह्म (ज्ञान , विद्या , बुद्धि) के लिये ब्राह्मण है । रक्षण के लिये राजन्य (क्षत्रिय) है , प्रजा के भरण पोषण के लिये वैश्य है , और तप (श्रमशक्ति) के लिये शूद्र है।[10] ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य और शूद्र ये चारों एक विराट् पुरूष के अंग है , अतः इनकी मौलिक एकता है । ये चारों स्वयं के लिये अपने गुणों का प्रयोग न कर समग्र के लक्ष्य से प्रेरित होते हैं , इसलिये भी इनमें मौलिक एकता है । प्रत्येक अंग के प्रत्येक पृथक कार्य के अनुरूप प्रत्येक वर्ण के पृथक कार्य निर्धारित किये गये हैं । इस प्रकार आदर्श समाज योजना में आदर्श समाज वह है , जिसमें कार्य विभाजन की योजना के अनुसार समाज का संगठन होता है। कार्य विभाजन के होने पर भी उसमें मौलिक एकता अवश्य बनी रहनी चाहिये । इस प्रकार के कार्य विभाजन की योजना प्राख्यात यूनानी दार्शनिक प्लेटो के ग्रन्थ रिपब्लिक में भी देखने को मिलती है जिसमें उसने आत्मा के तीन तत्वों , विवेक (Reason) , शौर्य (Spirit) और तृष्णा (Appettite) के आधार पर समाज के तीन वर्गो के निर्माण की योजना प्रस्तुत की है । उसका मानना है कि जब राज्य की जनता में इन गुणों के आधार पर कार्य विभाजन होता है , तब आदर्श राज्य की स्थापना होती है । ऐसे राज्य में सभी वर्गो , सभी व्यक्तियों तथा सभी संस्थाओं का समान रूप से कल्याण होता है क्योकि इस व्यवस्था में सभी वर्गो के लोग अपने आत्मा के गुण के आधार पर निर्धारित कार्य में विशेषज्ञता और दक्षता पूर्वक कार्य करते हुए समग्र के कल्याण के लिये कार्य करते हैं ।

---

[10] ब्रहमणे ब्राहमणम् , क्षत्राय राजन्यम् , मरूद्भ्यों ।
वैश्यम् , तपसे शूद्रम् ।। यजु0 30.5

वर्ण व्यवस्था गुण पर आधारित :–

प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि उनकी यह स्पष्ट धारणा थी कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य के लिये उपयुक्त नहीं होता । प्रत्येक व्यक्ति की रूचि स्वभाव और कार्य क्षमता पृथक होती है । अस्तु यदि व्यक्ति को उसकी रूचि और क्षमता के अनुरूप कार्य मिले तो उसमें वह शीघ्र दक्षता प्राप्त कर लेता है , अन्य कार्यो में नहीं ।

इसी दृष्टि से वैदिक वर्ण व्यवस्था निर्धारित है । यह व्यवस्था वृत्ति मूलक है , जाति मूलक नहीं । ब्राह्मण को मुख कहने का अभिप्राय है कि वह मुख का कार्य करता है। ये कार्य हैं – ज्ञान–प्रसार , भाषण , प्रवचन , धार्मिक कियाकलाप ,शास्त्रार्थ आदि । इसी प्रकार क्षत्रिय या राजन्य के बाहु कहने का अभिप्राय है – शौर्य–कार्य , रक्षण–कार्य और शस्त्र–अस्त्र से संबद्ध कियाकलाप । वैश्य को मध्यभाग या उदर कहने का अभिप्राय है – उदर के समान धन–संग्रह करना और उसका यथा स्थान समुचित उपयोग करना । इसमें व्यापार और वाणिज्य से संबद्ध सभी विषयों का समावेश हो जाता है। वैश्य ही समाज की अर्थ व्यवस्था का संचालक और नियंत्रक है। शूद्र को पैर कहने का अभिप्राय है – जिस प्रकार पैर गमन–आगमन का साधन है , शरीर का भार ढोते हुए उसे कियाशील बनाता है , उसी प्रकार श्रम से संबद्ध सभी कार्यो को करके समाज को गतिशील कियाशील और विकासशील बनाना ।

स्पष्ट है कि वेदों में जो वर्ण व्यवस्था दी गई है, वह शुद्ध रूप से गुणों और कर्मो पर आधारित है । यह वृत्तिपरक है, जातिपरक नहीं । अतः ब्राह्मण आदि वर्णो का संबंध जन्म से सर्वथा नहीं है । जिसकी जो वृत्ति होगी वही उसका वर्ण होगा । मनु , महाभारत , गीता आदि भी इस बात को स्वीकार करते हैं । गीता में श्री कृष्ण का कथन

है कि गुण और कर्म के आधार पर मैने ही चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।[11] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि स्वाभाविक गुणों के आधार पर ब्राह्मण , क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है।[12] महाभारत में ब्राह्मण के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि संयम , आचार ,बुद्धि , सरलता , सदाचार ,दयालुता , सहनशीलता , निष्काम भाव , मृदुता , अक्रूरता ओर क्षमाशीलता उसके प्रमुख गुण हैं । जो इन गुणों से युक्त होता है वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है। यदि वह पापकर्म करता है तो उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिये ।[13] महाभारत में ही कहा गया है कि दुश्चरित्रता , धमहीनता , चुगलीकरना , कुकर्मरत होना , मर्यादा का त्याग , अपवित्रता , क्रूरता , हिंसा धर्म और सदाचार का त्याग आदि दुर्गुणो से युक्त होने पर ब्राह्मण शूद्र हो जाता है।[14]

मनु ने भी ब्राह्मणों को अति सम्मानीय मानते हुए यह भी निर्देश दिया है कि यदि वे ब्राह्मण कर्म नहीं करते हैं तो उन्हे शूद्र समझा जाना चाहिये । मनु का कथन है कि जो ब्राह्मण वेदों को न पढकर अन्य शास्त्रों का अध्ययन करता है , वह सपरिवार शूद्र हो जाता है।[15]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था का आधार गुण कर्म था। समाज की सुचारू व्यवस्था के लिये वृत्तियों का विभाजन किया गया । जो जिस वृत्ति को करता था , उसका उसी प्रकार समाज में आदर और सम्मान होता था । किन्तु इस प्रकार निर्मित समाज में किसी प्रकार का स्तरीकरण था अथवा नहीं । वैदिक साहित्य से यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती । किन्तु स्मृति काल में स्पष्ट रूप से स्तरीकरण के

---

[11] चातुर्णण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः । गीता 4.13

[12] ब्राह्मण ,क्षत्रियविशां , शूद्राणां च परन्तय ।
कर्माणि प्रविभक्तानि , स्वभाव प्रभवैर्गुणै : ।। गीता0 18.41

[13] तस्माद् धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य दमः शौच मार्जवंचानिराजन् ।
ऋजु मृंदुर नृशंसः क्षमावान् स वैविप्रो नेतरः पाप कर्मा ।। शान्ति 63.7–8

[14] शूद्रो राजन् भवति बह्मबन्धु , दुश्चरित्रों यश्च धर्मादिपेतः ।
निर्मर्यादे चाशुचौ कूरवृत्तौ हिसात्मके व्यक्त धर्म स्ववृते ।। शान्ति 63.4–6

[15] योऽनधीत्य द्विजो वेदम् , अन्यत्र कुरुते श्रमन् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वम् आशु गच्छति सान्वयः ।। मनु 2.168

दर्शन होते है । चारों वर्णों में ब्राह्मण को श्रेष्ठ बताया गया है । कहा गया है कि ब्रह्म के मुख से उत्पन्न से (अन्य तीनों वर्णों की अपेक्षा पहले उत्पन्न होने के कारण) ज्येष्ठ होने से और वेद के धारण करने से धर्मानुसार ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी (सर्वश्रेष्ठ) होता है ।[16] जिन ब्राह्मणों के मुख द्वारा स्वर्गवासी देवगण हत्या और पितरगण कव्य को सदा भोजन करते हैं उनसे अधिक श्रेष्ठ कौन हो सकता है।[17] मनुस्मृति में ब्राह्मण की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए कहा गया है कि जिन ब्राह्मणों के कोप से अग्नि सर्वभक्षी हुआ समुद्र का जल खारा हो गया और चन्द्रमा क्षय रोग युक्त होकर फिर अच्छा हो गया उनको क्रोधित करके कौन नष्ट नहीं होगा।[18] यहाँ तक कि अविद्वान ब्राह्मणों को भी पूज्य बताते हुए मनु स्मृति में कहा गया है कि जैसे संस्कार युक्त अथवा संस्कारहीन अग्नि महान देवता है वैसे विद्वान होवे चाहे अविद्वान होवे ब्राह्मण महान देवता है अर्थात ब्रह्मणत्व युक्त अविद्वान ब्राह्मण भी पूज्यनीय है । जैसे महातेजस्वी अग्नि श्मशान में रहने पर भी दूषित नहीं होता , यज्ञ में होम होने पर वृद्धि को प्राप्त होता है , वैसे कुत्सित कर्मो से प्रवृत्त होने पर भी ब्राह्मण पूज्य है क्योंकि वह महान देवता है।[19] पराशर स्मृति में भी उल्लिखित है कि दु:शील ब्राह्मण भी पूज्य है , किन्तु जितेन्द्रिय भी शूद्र नहीं , क्योंकि दुष्ट गौ को छोडकर सुशीला गदही कोई नहीं दुहता ।[20] लघु आश्वलायन स्मृति मे तो स्पष्ट कहा गया है कि सभी वर्णो में ब्राह्मण उत्तम है इसलिये क्षत्रियों को उनका और उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये और शूद्रों को यथारीति उनकी सेवा करनी चाहिये , वेदज्ञ ब्राह्मण निश्चय सबसे माननीय है।[21]

---

[16] उत्तमाड्0गवेद वाज्जैष्ठयाहू ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्व स्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ।। मनु 1.93

[17] यस्यायेन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकस :
कव्यानि चैव पितरः किम्भूतमधिकं ततः ।। मनु0 1.95

[18] मनु0 9.314

[19] मनु 9.317–319

[20] दु:शीलोपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गौ दुष्टां दुहेच्छीलवंती खरीम् ।। परा0 8.33

[21] सर्वेषां चैव वर्णानामुत्तमो ब्राहमणो यतः

इतना ही नहीं न्याय और दण्ड व्यवस्था में ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त है। मनु के अनुसार स्वयंभुव मनु ने दण्ड देने के लिये जो दस स्थान कहे है वे क्षत्रिय , वैश्य और शूद्र के लिये है, ब्राह्मण को ऐसे दण्ड न देकर उनको देश से निकाल देना चाहिये।[22] क्षत्रिय आदि वर्णो को जिन अपराधों के लिये प्राणदण्ड देना चाहिये , उनके हेतु ब्राह्मण का सिर मुण्डन करा देना ही प्राण दण्ड के समान है। सम्पूर्ण पापों के करने पर भी ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिये , किन्तु वध योग्य अपराध करने पर धन के समेत उसे राज्य से बाहर कर देना चाहिये।[23]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि स्मृति कालीन समाज में समानता के अधिकार की स्थिति संदिग्ध थी । ब्राह्मण विशेषाधिकार युक्त थे और शेष तीनो वर्ण उसके नीचे होते थे । इन तीनो में भी शूद्र सबसे निचले स्तर पर थे और इन्हें अनेक सामान्य सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया था । यह असमानता शिक्षा धर्म एवं अन्तःकरण के अधिकारों के सम्बन्ध में भी दिखायी देता है। समाज के संसाधनो के उपभोग पर प्रथम तीन वर्णो का नियंत्रण था और चौथे (शूद्र) के लिये तीनो की सेवा करना ही एकमात्र धर्म निर्धारित किया गया था। निश्चय ही यह स्थिति समानता के सामान्य सिद्धान्तों के विरूद्ध थी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति , प्रत्येक वर्ग को जीवन के हर क्षेत्र में अवसर की समानता होती है और व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमतानुसार प्राप्त करता है। किन्तु यहाँ तो शूद्रों के लिये अवसर की समानता उपलब्ध ही नहीं थी । विविध क्षेत्रों में इस स्थिति का मूल्यांकन करने से यह बात सिद्ध हो जाती है।

क्षत्रिस्तु पालयेद्विप्र विप्राज्ञाप्रति पालकः ।। ल0स्मृ 22.1
सेवां चैव तु विप्रस्य शुद्रः कुर्याद्यथोछितम् ।
सर्वेषा चापि वै मान्यो वेदविद्विज एवहि।। ल0स्मृ0 22.2

[22] दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भु वोऽ ब्रवीत।
त्रिपुवर्णेषु यानि स्युः रक्षतेः ब्राह्मणों ब्रजेत ।। मनु0 7.124

[23] मनु0 8.179–180

शिक्षा का अधिकार :– शिक्षा को जीवन में व्यक्तित्व का उन्नायक माना जाता है । यह वह महत्वपूर्ण अंश है जो व्यक्ति के अन्तर्निहित गुणों एवं संस्कारों को जागृत और विकसित कर मानव व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करती है। अस्तु किसी भी देश और समाज में व्यक्ति के लिये शिक्षा का अधिकार अपरिहार्य हो जाता है । यही कारण है कि वैदिक काल में सबको वेद पढने अर्थात शिक्षित होने का अधिकार दिया गया था। यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि यह वेदवाणी ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य , शूद्र सबके लिये है ।[24] इतना ही नहीं वेदों में चारो वर्णो के लिये समान रूप से बिना किसी भेदभाव के तेजस्विता , अभ्युदय और श्री वृद्धि की कामना की गई है।[25] किन्तु स्मृति काल में तीन वर्णो (ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य) के लिये अध्ययन और अध्यापन का उल्लेख है किन्तु शूद्रों को शिक्षा के अधिकार से दूर रखा गया है। शिक्षा के सम्बन्ध में स्त्रियों की स्थिति भी स्मृतिकाल में शूद्रों के समान ही है।

स्मृतियों में अध्यापन कार्य प्रमुख रूप से ब्राह्मणों द्वारा ही किया जाता था किन्तु आचार्य और गुरू के लिये द्विज शब्द प्रयोग किया गया है जो तीनों वर्णो (ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य) के लिये प्रयुक्त होता था।[26] इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण के लिए अतिरिक्त , क्षत्रिय और वैश्य भी आचार्य एवं गुरू होते थे अर्थात अध्यापन करते थे । अतएव याज्ञवलक्य की टीका में मिताक्षरा का कथन है कि क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मण की अनुमति से अध्यापन कार्य कर सकते है।[27] भृगुस्मृति में वेदज्ञ क्षत्रियों और वैश्यों का उल्लेख मिलता है।[28] परकालीन साहित्य में बहुत से क्षत्रिय एवं वैश्यों का उल्लेख आचार्य

---

[24] यथेमा पांच कल्याणीम् आ वदानि जनेभ्यः
ब्रहमराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च । यजु0 26.2

[25] रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु , रूचं राजसु नस्कृधि।
रूचं विश्येषु , शूद्रेषु , मयि धेहि रूचा रूचम् ।। यजु0 18.48

[26] वेदमध्यापयेद् द्विजः ।। मनु 2.140

[27] अध्यापन तु क्षत्रिय वैश्ययोर्ब्रह्मण प्रेरितयोर्मिवतिन न स्वेच्छया ।। मिता0 याज्ञ0 1.118

[28] अधीत वेद–शास्त्रत्व , येषां ते क्षत्रिया मताः ।। भृगु0 3.18
अधीत वेद शास्त्रत्व मेतद् वैश्यस्य लक्षणम् । भृगु 3.25

के रूप में मिलता है । कुमाररिल भट्ट ने लिखा है कि अध्यापन कार्य केवल ब्राह्मणों के ऊपर ही नहीं था। प्रत्युत बहुत से क्षत्रियो एवं वैश्यों ने अपने वास्तविक जातिगुण को छोडकर गुरू पद ग्रहण किया था।[29] शूद्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है ।

इसी प्रकार विद्याध्ययन के अधिकारी कौन है , कौन नहीं इसका भी स्मृतियों में स्पष्ट वर्णन आया है । मनु ने निरूक्त (2.4) के विद्यासूक्त को उद्धृत करते हुए कहा है कि अपनी रक्षा के लिये विद्या ब्राह्मण के पास आई और उससे कहा कि जो द्वेषी हो उसे विद्या न दे । इसके विपरीत जो ब्राह्मचारी , पवित्र संयमी और अप्रमादी हों , उसे ही विद्यादान करें ।[30] मनु ने दस प्रकार के लोगों को विद्याध्ययन का पात्र बताया है – आचार्य का पुत्र , गुरू की सेवा करने वाला , अन्य विषयों का ज्ञाता , धर्मात्मा , पवित्र , सत्यवादी ज्ञान के ग्रहण और धारण में समर्थ , धन देने वाला , सदाचारी और निकट सम्बन्धी।[31] याज्ञवलक्य के अनुसार विद्या के पात्र है – कृतज्ञ , अद्रोही , मेधावी , पवित्र , स्वस्थ , अछिद्रान्वेषी , सदाचारी, ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ , सत्यवादी, विद्यादानी एवं धनदाता । ये गुण सामूहिक या व्यस्त रूप में विद्यार्थी में अवश्य होने चाहिये। इनको ही विधिपूर्वक शिक्षा दी जानी चाहिये ।[32]

स्मृतियों में विद्याध्ययन के लिये अपात्र व्यक्तियों का भी वर्णन किया गया है। मनु का कथन है कि दोषों से युक्त व्यक्तियों को विद्या न दें । छिद्रान्वेषी को विद्या न दें ।[33] जिसमें धार्मिकता नहीं है , जो सम्पन्न और सोद्देश्य नहीं है और जिसमें गुरू सेवा का

---

[29] तन्त्र वार्तिक । पृ0 108 (धर्मशास्त्र का इतिहास भाग–1 पृ0 4 पर उद्धत)
[30] मनु0 2.114–115
[31] आचार्य पुत्रः शुश्रुषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आक्तः शक्तोडथदः साधुः स्वोऽध्याव्या दश धर्मतः ।। मनु0 2.109
[32] कृतज्ञा द्रोहिमेधाविशु चिकल्यान सूयकाः ।
अध्याप्या धर्मतः साधु , शम्ताप्तज्ञानवित्तदाः ।। याज्ञ0 1.28
[33] असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा । मनु0 2.114

भाव नहीं है , उसे विद्या न दें इन्हे विद्या देना ऊसर में बीज बोने के समान है।[34] हारीत का कथन है कि तीन कारणों से विद्या देनी चाहिए – धर्म के लिये , धन के लिये और सेवा भाव के लिये । जिनमें धन , धर्म और सेवाभाव का अभाव हो उन्हे विद्या न दें। निष्कर्ष रूप में हारीत का कथन है कि योग्य शिष्यों को ही शिक्षा दें , अयोग्यों को नहीं ।[35] औशनस स्मृति के अनुसार गुरू एक वर्ष शिष्य की परीक्षा करके आचार युक्त , मनस्वी और सदा हितकारी को ही विद्या दें ।[36] लघु हारीत का कथन है कि ऐसे व्यक्ति जिनकी बुद्धि वेदों में न लगती हो और जो मन्द बुद्धि हो उन्हें विद्या न दें । ऐसे व्यक्ति को पढ़ाना कुलनाशक है।[37] बृहस्पति का मत है कि यदि मन्द बुद्धि व्यक्ति चार वेद और छः वेदांगों को पढ ले तब भी वे शोभा के पात्र नहीं होते है , जैसे चन्द्रहीन रात्रि। इस प्रकार स्मृतिहीन या मन्द बुद्धि शिष्यों को वेदादि का अपात्र बताया गया है।[38] अत्रि संहिता ने अकुलीन , दुराचारी , मूर्ख ,शूद्र और धूर्त इनको शास्त्र ज्ञान देने का निषेध किया है और कहा है कि केवल सदाचारी शिष्य को ही धर्मशास्त्र की शिक्षा दें ।[39]

स्मृतियों में द्विजमात्र (ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य) को वेद आदि की शिक्षा ग्रहण करने का विधान है। मनु का कथन है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनो वेदाध्ययन करें।[40] प्रत्येक वर्ण के लिये जो अलग कर्तव्य बताये गये हैं वे अपने वर्णानुसार करें । मृगु स्मृति में क्षत्रिय और वैश्य के लिये वेदों के अध्ययन का विधान है।[41] याज्ञवलक्य और नारद स्मृतियों में उल्लेख है कि शिष्य आभूषण निर्माण , नृत्य, गीत एवं शिल्पों को सीखने

---

[34] धर्माथो यत्र न स्यातां , शुश्रूषा वापि तदविद्या ।
तत्र विद्या न वक्तष्या , शुभ बीजमिवोषरें ।। मनु0 2.112

[35] ल0हा0 1.19–21

[36] औश0 3.33–34

[37] स्मृति हीनाय विंप्राय , श्रुतिहीने तथैवच ।
दानं भोजनमन्यच्च , दत्तं कुल विषनाशनम् ।। ल0हा0 1.23

[38] अधीत्य चतुरोवेदान् , सषडऽड्.ग पदकमान् । स्मृतिहीना न शोभन्ते , चन्द्रहीनेव शर्वरी ।। वृह0 संस्कार 227

[39] अत्रि0 सं0 1.7–8

[40] मनु0 10.1

[41] भृगु0 3.18 , 3.25

के लिये गुरू के पास अन्तेवासी के रूप में रहते थे । निर्दिष्ट समय तक इन शिल्पों को सीखते थे । गुरू ही इनके भोजन की व्यवस्था करता था । याज्ञवलक्य और नारद के कथन से ज्ञात होता है कि शिल्प विद्यायें चारो वर्णो के लोग सीखते थे । इनके लिये कठोर अनुशासन भी निर्दिष्ट थे । भृगु स्मृति का कथन है कि जो मन्द बुद्धि और विद्याहीन हैं , वे ही शूद्र हैं । ऐसे व्यक्तियों को ही वेदों की शिक्षा निषिद्ध है । जो तीव्र बुद्धि और श्रेष्ठ स्वभाव वाले हैं , वे जन्म से शूद्र होने पर भी वेदाध्ययन के अधिकारी है।[42]

जहाँ तक स्त्रियों के शिक्षाधिकार का प्रश्न है , वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन वैदिक काल में स्त्रियों की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था उन्नत थी । बहुत सी स्त्रियों ने वेदिक ऋचाओं की रचना तक की है। पाणिनि के काल में भी स्त्री अध्यापिकाओं का उल्लेख मिलता है । यही कारण है कि उन्होने अध्यापन कार्य करने वाली स्त्रियों को " आचार्या " और " उपाध्याया " नाम दिया है।[43] गोभिल गृह्य सूत्र और काठक गृह्यसूत्र से ज्ञात होता है कि वधुएं पढी लिखी होती थीं और वे मन्त्रों का उच्चारण करती थीं ।[44] इससे स्पष्ट होता है कि सूत्र काल में भी स्त्रियां वेद मंत्रों का पाठ करती थी । किन्तु स्मृति काल में स्त्रियों की दशा में अधोगति हुई , स्त्रियों को शूद्रो की श्रेणी में रखा गया और उन्हें वेद आदि के अध्ययन से वंचित रखा गया । मनु , गौतम आदि ने स्त्रियों का अस्वतंत्र माना है।[45] मनु ने स्त्रियों के संस्कार मन्त्रहीन कहे हैं। केवल विवाह संस्कार में स्त्रियों के मंत्र पाठ को उचित बताया है।[46] किन्तु मनु की इस व्यवस्था के विपरीत वृद्धहारीत और भृगु स्मृति में स्त्रियों और शूद्रों के उपनयन और वेदाध्ययन की व्यवस्था की गई है । वृद्धहारीत का कथन है कि जो भी सदाचार ,

---

[42] भृगु 3.28–30
[43] इन्द्रवरूण , अष्टा0 4.1.49 की व्याख्या
[44] काठक 0 25.23 गोभिल0 2.1.19–20
[45] मनु0 9.3 , गौतम 18.1
[46] मनु0 2.66–67

सुशीलता आदि गुणों से युक्त है वे सभी ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य , शूद्र और स्त्रियाँ मन्त्रों के पाठ के अधिकारी हैं।[47] भृगु का कथन है कि बालक और बालिकाओं का उपनयन पाँच वर्ष की अवस्था में होना चाहिये और उन्हें वेदाध्ययन न करना चाहिये।[48] रजस्वला स्त्रियाँ वेदाध्ययन न करें । पाँच वर्ष की अवस्था में कन्याओं को गुरूकुल में भेज देना चाहिये । स्वच्छता और आचार से हीन तथा निकृष्ट कार्य करने वाली स्त्रियाँ और पुरूष वेद पढने के अधिकारी नहीं हैं।[49] भृगु ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि बिना अध्ययन के स्त्री और शूद्र को भी ज्ञान नहीं हो सकता है। ज्ञान के अभाव में मुक्ति असम्भव है। अतः स्त्री और शूद्रों को भी मुक्ति के लिये ज्ञान की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये।[50]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक काल में तो समाज के सभी वर्गो के स्त्री पुरूषों को विद्याध्ययन का अधिकार था। किन्तु स्मृति काल में इस विषय में स्थिति संदिग्ध है। ब्राह्मण ,क्षत्रिय और वैश्य की शिक्षा के अधिकार पर तो सभी धर्मशास्त्रकार एकमत है किन्तु स्त्रियों एवं शूद्रों के विद्याधिकार के सम्बन्ध में मत वैभिन्न है। एक तरफ जहां मनु आदि स्मृतिकार स्त्रियों और शूद्रों को विद्याध्ययन के अयोग्य बताते हैं वही वृद्धहारीत और भृगु उनकी मुक्ति व उत्थान के लिये उनकी भी शिक्षा व्यवस्था करने पर सहमत है।

2. धर्म एवं अन्तःकरण की स्वतंत्रता :– धार्मिक क्रियाकलापों के सम्पादन के सम्बन्ध में भी स्मृतियों की व्यवस्था भेदभाव युक्त है। धार्मिक कृत्य , यथा मंत्रोच्चार यज्ञादि के सम्पादन का अधिकार द्विजो (ब्राह्मण , क्षत्रिय और वैश्य) को ही दिया गया है। शूद्र को इन अधिकारों से वचित रखा गया है । मनु का कथन है कि ब्रह्म ने शूद्रों के लिये यही प्रधान कर्म बताया है कि वे लोग शुदृ चित्त से ब्राह्मण , क्षत्रिय और वैश्य की

[47] ब्राहमणः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथेराः।
तस्याधिकारिणः सर्वे , सत्वशील गुणा यदि ।। ब्र0हा0 3.6

[48] भृगु0 3.40—43 , 10.1—15

[49] वेदाः सर्वेः सदाऽध्येया , बालिकाभिश्च बालकैः ।
शैशवे कृत यज्ञोपवीत सतैः पञचमाब्दतः ।। भृगु0 3.40

[50] न पत्युः सेवया मुक्तिर्म वेज्ज्ञानैक हेतुका ।
न बिनाऽध्ययन ज्ञानं , भवेत् स्त्री शूद्रपुत्रयोः ।। भृगु 10.15

सेवा करें ।[51] वेदज्ञ और यशस्वी गृहस्थ ब्राह्मणों की सेवा करना ही शूद्रों के लिये श्रेष्ठ कल्याणकारी धर्म है ।[52] अध्याषत्मिक उन्नति के लिये अन्तःकरण से किये जाने वाले धार्मिक कृत्य स्त्रियों और शूद्रों के लिये निषिद्ध किये गये हैं । अति स्मृति में वर्णन है कि जप , तप, तीर्थ , सन्यास ग्रहण , मन्त्र साधन और देवता की आराधना इन छः कर्मो को करने से स्त्री और शूद्र पतित हो जाते हैं।[53] ये कार्य स्त्रियों को अपने पति के साथ और शूद्रो को अपने स्वामी के साथ ही करने चाहिये । इस प्रकार स्मृति कालीन व्यवस्था जप , तप , ईश्वर साधना , यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों को करने के लिये भी शूद्रों को अयोग्य घोषित करती है जो समानता की आधुनिक अवधारणा के विपरीत है ।

---

[51] मनु0 1.91

[52] विप्राणां वेदविदुषां ग्रहाडयानां यशारिवनाम् ।
शुश्रूषैवतु शूद्रस्य धर्मो नै श्रेयषः परः ।। मनु0 9.334

[53] जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्र साधनम् ।। अत्रि0 133
देवताराधनं चैव स्त्री शूद्र यततनानि ।। अत्रि0 134

2. राजनीतिक अधिकार

राजनीतिक अधिकारों का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के राज्य के क्रियाकलापों में भाग लेने से है। इसके अन्तर्गत चुनावों में भाग लेने का अधिकार और राजनीतिक सत्ता से जुडी हुई संस्थाओं में कार्य करने का अधिकार सम्मिलित है , चाहे वे विधान मण्डल हो या मन्त्रिमण्डल हो देखा जाय तो राजनीतिक अधिकारों की व्यवस्था यह मांग करती है कि निश्चित प्रक्रिया के अनुरूप राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का मार्ग सबके लिये खुला हो । जनसाधारण अपनी पसंद के शासक चुन सकें , अनचाहे सत्ताधारियों को बदल सकें , सरकारी निर्णयों को प्रभावित कर सकें , सरकार की नीतियों , निर्णयों और कार्यो की आलोचना कर सकें और वैकल्पिक नीतियों तथा कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकें । इस प्रकार आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में नागरिकों को प्रमुख रूप से अधोलिखित राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं –

1. मत देने का अधिकार
2. निर्वाचित होने का अधिकार
3. सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार

मत देने का अधिकार व निर्वाचित होने का अधिकार :–

निर्वाचित करने का अधिकार (मतदान का अधिकार) और निर्वाचित होने का अधिकार लोकतांत्रिक पद्धति की मांग है किन्तु प्राचीन भारत में , कुछ अपवादों को छोडकर , राजतन्त्र ही व्यवस्थित शासन का प्रचलित रूप था। स्मृतियों में तो प्रायः राजतंत्र को ही शासन पद्धति के सामान्य रूप में स्वीकार किया गया है । जहां तक सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार है यह प्राचीन भारत में योग्यता एवं गुणों के आधार पर स्वीकार्य था । कुछ अपवादों को छोडकर वंशानुगत राजपद के अलावा मंत्रियों और अन्य अधिकारियों के पदों तक व्यक्ति अपने गुण ,

योग्यता व क्षमता से अपनी पहुँच बना सकता था । सर्वप्रथम स्मृतियों में सर्वोच्च राजनीतिक पदों पर निर्वाचन की स्थिति का मूल्यांकन करना प्रासंगिक होगा। प्राचीन भारतीय शासन पद्धति में राजा और अमात्य (मन्त्रीगण) सर्वोच्च राजपदधारी होते थे ।

राजा :— प्राचीन भारतीय शासन पद्धति में राजा का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता था यही कारण है कि राज्य की सप्त प्रकृतियों अथवा सात अंगो में राजा की गणना सर्वप्रथम की जाती है। मनु ने स्पष्ट कहा है कि पहले वालें अंग बाद वालों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है । न्याय करते समय पहले वालों को अधिक प्राथमिकता देनी चाहिये ।[54] राजा के महत्व को स्पष्ट करते हुए महाभारत में भीष्म ने कहा है कि जिसकी राजा , भोज , विराट् , सम्राट , क्षत्रिय , भूपति , नृपति आदि शब्दों में स्तुति की जाती है , उसकी पूजा कौन न करेगा। एक अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि सभी प्राणी धर्म में स्थित रहते हैं और धर्म राजा में निवास करता है , अतः जो राजा उस धर्म की उत्तम रीति से रक्षा करते हैं , वे ही पृथ्वी के स्वामी होते हैं।[55] शुक्र नीति में कहा गया है कि राजा इस जगत की वृद्धि का हेतु है और वृद्धों का मान्य है , वह नेत्रों को इस प्रकार आनन्द प्रदान करता है जैसे चन्द्रमा समुद्र को । उत्तम नीतिमान् राजा के अभाव में प्रजा ,कर्णधार के बिना समुद्र पर तैरती नौका के समान नष्ट हो जाती है।[56]

प्राचीन भारतीय साहित्य में राजा का महत्व सबसे अधिक माना गया है। अथर्ववेद का कथन है कि तेजस्वी राजा के सभी शत्रु परास्त हो गये और प्रजा आनन्द से रहने लगी । राजा का यह प्रताप देखकर सभी उसका सम्मान करने लगे । राजा ही प्रजा का संरक्षण करता है और शत्रु के घातक आक्रमण से सतत् उसकी रक्षा करता है।[57] राजा

---

[54] सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्व–पूर्व गुरूतरं जानीयाद् व्यसनं महत् ।। मनु 9.295

[55] महाभारत , शान्ति पर्व 68.54 , 90.5

[56] शुक्रनीति 1:64–65

[57] अर्थर्ववेद 6:128

को वैदिक काल से ही धर्म का रक्षक , पोषक और समर्थक समझा जाता रहा है । वैदिक काल के राजा का आदर्श ऋतु और धर्म की रक्षा करने वाले धृतव्रत वरूण देव थे , धर्म से बढकर और कोई वस्तु न थी , अतः धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था । महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म के माध्यम से कहा गया है कि अव्यवस्था से त्रस्त देवता प्रजापति से प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभु आप ऐसे पुरूष को आज्ञा दीजिये जो सम्पूर्ण मृत्युलोकवासी प्राणियों पर प्रभुता कर सकें । पुनः महात्मा पृथु ने भूलोक में धर्म स्थापित कर प्रजा के मन का रंजन किया , उसी समय से पृथ्वी पर राजा शब्द प्रचलित हुआ।[58] कौटिल्य ने राज्य और राजा के बीच अन्तर नहीं किया है ।[59] इसी प्रकार का विचार कालीदास के रघुवंश में भी है। यदि राज्य में किसी भी प्रकार का दोष या अभाव होता था तो उसके लिये राजा को दोषी समझा जाता था।[60] शुक्रनीति के अनुसार आचरण का प्रेरक राजा है ।[61] ऋग्वेद और अथर्ववेद के कई सूक्तों में प्रजा के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।[62]

राजा का निर्वाचन ? – इस प्रकार के महत्वपूर्ण पद को धारण करने वाले राजा का निर्वाचन होता था अथवा नहीं इस सम्बन्ध में मतभेद है। पूर्व वैदिक काल में अवश्य राजा के निर्वाचन के उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर विशों द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख आया है । यहां पर विशु द्वारा निर्वाचन का स्पष्ट उल्लेख है साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि जनता डरी हुई थी । अथर्ववेद से ही ज्ञात होता है कि राजा के निर्वाचन के लिये सभी प्रतिनिधि एकत्र होते थे और सर्व सम्मति से राजा का निर्वाचन करते थे । राजा के नियुक्ति का कार्य समिति करती थी और वही राजा को

---

58 महाभारत शान्तिपर्व 59:77 125

59 डी.के. गार्डस , शोध पत्र , द सोशल एण्ड पोलिटिकल थॉट आफ कालिदास , 3

60 वही

61 शुक्रनीति , 1:22

62 ऋग0 10.173 , 1 से 6 , अथर्ववेद 3.4.1 से 76.87.1 से 36.88.1 से 31

स्थायित्व प्रदान करती थी ।[63] इस मंत्र में समस्त दिशाओं से आये हुए प्रतिनिधियों के लिये " सर्वादिशाः " शब्द प्रयुक्त किया गया है। सर्व सम्मति और एकमत के लिये " संमनसः " और " सध्रीचीः " शब्द है। समिति को राजा की स्थायी नियुक्ति का अधिकार है , इसके लिये ध्रुवाय ते समितिः' कहा गया है। राजा की इस नियुक्ति के साथ राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह लोकप्रिय होकर रहे , जिससे जनता उसको पसन्द करें और वह ऐसे कार्य करें जिससे देश को कोई क्षति न पहुँचे और राष्ट्र की अवनति न हो , साथ ही ऐसा भी कोई काम न करें , जिससे वह पदच्युत हो जाय।[64] इस मंत्र में " विशः " के द्वारा प्रजा का निर्देश है और कहा गया है कि प्रजा की स्वीकृति से तू राजा बनाया गया है।

राजा की नियुक्ति के साथ यह भी कामना की जाती थी कि वह स्थायी रूप से राजा रहे और राष्ट्र की सुरक्षा करें । वह अपदस्थ न हो और पर्वत के तुल्य स्थिर बना रहे। जिस प्रकार इन्द्र देवराज पद पर स्थायी हैं उसी प्रकार राजा भी अपने पद पर स्थायी रहे ।[65] इसी प्रसंग के ऋग्वेद में राजा से कहा गया है कि तू अकेला ही प्रजा से कर लेने का अधिकारी हो गया है।[66]

अथर्ववेद के एक अन्य प्रसंग से ज्ञात होता है कि राजा का निर्वाचन सर्वसम्मति से किया जाता था । इसका आधार होता था गुणों और वीरता आदि में सर्वोत्कृष्टता । अथर्ववेद का कथन है कि देवताओं ने सर्व सम्मति से इन्द्र को राजा चुना । इन्द्र में राजत्व के जो गुण पाये गये , वे थे – वह शत्रु सेना को परास्त कर सकता था , वह पुरूषार्थियों में सर्वश्रेष्ठ था , अत्यन्त प्रतापी था , शक्तिशाली था, साहसी था, और शीघ्रता

---

[63] सर्वा दिशः संमनसः सध्रीची :
ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ।। अथर्व 6.88.3

[64] विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु
मा त्वद् राष्ट्रमधि भृशत् ।। अथर्व0 6.87.1

[65] ऋग0 10.173.2

[66] अथ्ते त इन्द्रः केवलीर्विशः बलिह्नतस्करत् । ऋग0 10.173.6

से कार्य करने की क्षमता रखता था ।[67] इसी सूक्त में आगे कहा गया है कि राजा नियमों का पालन करने वाला हो , अपनी शक्ति से देश को सुरक्षा करके समृद्धि और विकास की ओर ले जाने वाला हो ।[68] समृद्धि और विकास के लिये मंत्र में 'वृधे' शब्द प्रयुक्त किया गया है । प्रो0 ग्रिफिथ ने भी अपने अथर्ववेद भाष्य में स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत में राजा के निर्वाचन की प्रथा प्रचलित थी ।[69]

अथर्ववेद के एक अन्य सुक्त में भी राजा के निर्वाचन का वर्णन है। मंत्र का कथन है कि पाँचों दिशाओं से आई हुई प्रजाएँ तुझे राज्य के लिये निर्वाचित करती हैं। तू राज्य के उच्च शिखर पर अधिष्ठित होकर प्रजा को यथायोग्य धन की व्यवस्था कर ।[70] इस मंत्र में " त्वां विशो वृणतां राज्याय " के द्वारा प्रजा (विश) द्वारा राज्य के लिये राजा के वरण (निर्वाचन) का उल्लेख है। " पंचदिशः " से अभिप्राय है– सभी ओर से आये हुए निर्वाचक प्रतिनिधिगण। पाँच दिशाओं से अभिप्राय है – पूर्व , पश्चिम , उत्तर व दक्षिण के अतिरिक्त मध्य भाग से आये हुए निर्वाचक प्रतिनिधिगण । मंत्र के अन्तिम भाग " विभजा वसूनि " का अभिप्राय है कि राज्य की अर्थव्यवस्था का उत्तरदायित्व राजा पर है । राजा का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रताप से अर्थव्यवस्था ठीक रखे ।

किन्तु इस प्रकार के मताधिकार का क्या अधार था । यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि जन सामान्य को निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार नहीं था। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि अन्य राजागण जिसे माने वही राजा होता है दूसरा नहीं।[71] इसी प्रकार राज्याभिषेक के एक मंत्र में याचना की गई

---

[67] विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं
सजूसतत क्षुरिन्द्र जजनुश्च राजसे।
कृत्वा वरिष्ठे वर आमुरिम् उतोग्रम
ओजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ।। अथर्व0 20.54.1

[68] यदीं बृधे धृतवृतो हयोजसो समुतिभिः । अथर्व 20.54.2

[69] ग्रिफिथ , अथर्ववेद भाष्य , भाग 1 पृ0 84

[70] त्वां विशो वृणतां राज्याय , त्वामिमाः प्रदिशः पंच देवीः
वर्ष्मन राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व , ततो न उग्रो विभजा वसूनि ।। अथर्व 3.4.2

[71] यस्मै वा राजानों राज्य मनु मन्यते स राजा भवति

है कि अभिषिक्त राजा अपने श्रेणी के व्यक्तियों में प्रतिष्ठित हो । अतः बहुत संभव है कि जनता के नेतागण , कुलपति और विश्वपति ही राजा का वरण करते रहे हों और जन साधारण अधिक से अधिक प्राचीन रोम की ' क्यूरिया ' (जनसाधारण) की भाँति उनके निर्णय पर केवल अपनी सहमति देती रही हो ।[72] निर्वाचन भी कभी–कभी हुआ करते थे । साधारणतः सबसे प्रतिष्ठित कुल के सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति को ही नेता मानकर राजपद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता था।[73]

राजा का निर्वाचकों से संपर्क :–

अथर्ववेद के एक अत्यन्त रोचक मन्त्र में कहा गया है कि राजा राजत्व प्राप्ति के लिये जनता के पास जावे और उनसे सम्पर्क करें । जनता के प्रतिनिधि राजा को बुलावे और राजा जनता के कल्याण का आश्वासन दें। [74] वरूण देवता एक हैं परन्तु मंत्र में वरूण का बहुवचन में प्रयोग है इससे ज्ञात होता वरूण शब्द वरणकर्ता (चयनकर्ता) के अर्थ में है , अतः "वरूणैः संविदानः का अर्थ है – राजा निर्वाचकों से सम्पर्क करें ।[75] " सम आज्ञास्थाः " का अर्थ है – वह निर्वाचकों से वस्तुस्थिति का आंकलन करें और जन प्रतिनिधियों से उसकी समस्याओं की जानकारी प्राप्त करें , जनता के द्वारा बुलाये जाने पर राजा उनके निवास स्थानों पर जावे । ' स उ कल्पयाद् विश : " वह जनता को आश्वासन दे कि उनकी उन्नति और विकास के लिये कार्य करेगा।[76]

इस मंत्र का महत्व इस बात से स्पष्ट होता है कि राजा के अन्य प्रतिद्वन्दी भी अपने लिये प्रयत्नशील रहते थे अतः राजा का निर्वाचकों से सम्पर्क करना आवश्यक होता था । साथ ही उन्हें विकास आदि के लिये कुछ आश्वासन भी देने होते थे ।

न स यरमै ने । श0प0 ब्रा0 9.34 , 5

[72] उल्टेकर , अनन्त सदाशिव , प्राचीन भारतीय शासन पद्धति , भारती भंडार इलाहाबाद 1959 , पृ0 62

[73] वही

[74] इन्द्रदेन्द्र मनुष्याः परेहि , सं हयज्ञास्था वरूणैः संविदानः ।
स त्वायम् अह्वत स्वे सधस्थे , ...स उ कल्पयाद विशः ।। अथर्व0 3.4.6

[75] कपिलदेव द्विवेदी, वेदों में राजनीति , विश्वभारती अनुसंधान परिषद , ज्ञानपुर (भदोही) 1998 पृ0 105

[76] वही

राजा की नियुक्ति जीवन पर्यन्त के लिये :–

अथर्ववेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि निर्वाचित राजा की नियुक्ति आजीवन या जीवन भर के लिये होती थी । अथर्ववेद के मंत्र में इसके लिये ' दशमीम ' (अर्थात दसवें दशक तक के लिये) कहा गया है। दसवें दशक अर्थात 100 वर्षों के लिये या जीवन भर के लिये यह नियुक्ति की जाती थी । इस मंत्र में दो शब्द और महत्वपूर्ण हैं – 1. उग्रः , अर्थात राजा प्रतापी बनकर रहेगा , तभी वह आजीवन राज्य कर सकेगा और 2. सुमनाः – सद्भावना वाला होकर । यदि राजा में सद्भावना है , स्नेह है, प्रजा से प्रेम है और ह्रदय स्वच्छ है , तभी उसे प्रजा स्वीकार करेगी और वह आजीवन राज्य कर सकेगा।[77]

राजा का प्रतिद्वन्दियों से सावधान रहना :–

राजा के निर्वाचन की प्रक्रिया में उसके प्रतिद्वन्दी भी होते थे , जो सदा यह प्रयत्न करते थे कि राजा के निर्वाचन में कोई विध्न–बाधा डाला जाय या उसे अपदस्थ किया जाय। ऐसा करने में उसके 'सजात' अर्थात उसके संबंधी या पारिवारिक व्यक्ति मुख्य होते थे । साथ ही कुछ अन्य व्यक्ति भी इस षडयंत्र में सम्मिलित होते थे , जिन्हे " निष्ट्य " (बाहरी) कहा गया है। राजा को 'सजात' और ' निष्ट्य ' दोनो प्रकार के विरोधियों से सावधान रहने का निर्देश दिया गया है। साथ ही यह भी निर्देश दिया गया है कि ऐसे लोगों को सिर न उठाने दे और आवश्यक हो तो उन्हें देश से बाहर निकाल दे ।[78]

---

[77] दशमीमृगः सुमना वशेह । अथर्व 3.4.7

[78] यस्ते हवं विवदत् , सजातो यश्च निष्ट्य
अपाच्वमिन्द्र तं कृत्वा डथेमम् इहाव नामय ।। अथर्व0 3.3.6

राजा को निर्वाचन पर बधाई और उपहार :—

अथर्ववेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि राजा के निर्वाचित होने पर प्रसन्नता व्यक्त की जाती थी , परिवार से सम्बद्ध सभी लोग (सजात) उसके पास आते थे और बधाई देते थे । प्रजाजन भी राजा के पास जाते थे और उसका अभिनन्दन करते थे । स्त्रियाँ और बच्चे प्रसन्नता व्यक्त करते तथा राजा को अनेक प्रकार के बड़े उपहार (बलि) भेंट करते थे ।[79]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व वैदिक काल में राजा का निर्वाचन होता था । यद्यपि वह निर्वाचन सार्वभौम वयस्क मताधिकार प्रणाली पर आधारित जनसाधारण द्वारा निर्वाचन न होकर राजाओं , विश्पतियों या कुलपतियों द्वारा होता था फिर भी निर्वाचन की एक परम्परा थी और राजपद योग्य सक्षम गुणी और श्रेष्ठ व्यक्ति के लिये सुलभ था। किन्तु उत्तर वैदिक काल तक आते–आते राजपद आनुवांशिक हो गया । यह स्थिति स्मृतियों के काल तक और सुदृढ़ हो चुकी थी।

राजा के निर्वाचन की प्रथा वैदिक काल में ही अव्यावहारिक हो चुकी थी । यह इसी बात से सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में भी अधिकतर राजपद आनुवांशिक दिखाई देते है । तृत्सुओं में चार पीढी से और अधिक समय से पुत्र ही पिता की राजगद्दी पर बैठते चले आ रहे थे ।[80] सज्जनों का राजा।[81] दुष्टऋतु पौसायन की कथा में दस पीढी से प्राप्त राज्य का उल्लेख है और राज्याभिषेक के समय की घोषणा में भी नये राजा को राजा का पुत्र कहा गया है ।[82]

---

[79] राजन्...............उपसद्यो नमस्यो भवेह । अथर्व 3.4.1
(ख) अच्छ त्वा यन्तु छविनः सजाताः,
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु ,
बहुं बलि प्रति पश्यासा उग्र ।। अथर्व 3.4.3
[80] अल्टेकर , ए.एस. पूर्वोक्त , पृ0 63
[81] श0प0ब्रा0 12.9.3 , 1–13
[82] ऐ0ब्रा0 8.12

अतः इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि उत्तर वैदिक काल के बहुत पहले ही राजा का पद आनुवांशिक बन गया था । ईसा की आठवीं शताब्दी तक राजपद के निर्वाचित होने के पक्ष में जो प्रमाण दिये जाते है वे बहुत पुष्ट नहीं हैं ।[83] अथर्ववेद में उल्लिखित " राजकर्त्तारिः " राजा के निर्वाचक नहीं वरन राज्याभिषेक करने वाले ब्राह्मण हैं ।[84] जब अपने ज्येष्ठ पुत्रों की अपेक्षा राजा प्रतीप ने अपने छोटे पुत्र शांतनु को और ययाति ने पुरू को राज्य दिया तो प्रजा ने महल के समक्ष एकत्र होकर प्रतिवाद किया किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि राजा के चयन में उन्हे भी बोलने का अधिकार था। उन्होने केवल ज्येष्ठ पुत्र के स्वाभाविक अधिकार के अपहरण का कारण जानना चाहा और राजा के उत्तर से सन्तुष्ट होकर वे चले भी गये ।[85] इन दोनों घटनाओं से यही सिद्ध होता है कि जनता ने ज्येष्ठ पुत्र के पिता की गद्दी पर बैठने के अधिकार अर्थात पैतृक राज्य का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था , न कि उन्हें राज्य के चयन में मत देने का अधिकार था। रामायण में राम को युवराज बनाये जाने के सम्बन्ध में जो वर्णन है इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि जनता का इस निर्णय में कोई हाथ था । इस प्रस्ताव पर सहमति के लिये दशरथ ने अपनी प्रजा के नेताओ को नहीं वरन अपने करद या सामंत और पड़ोसी राजाओं को बुलाया था।[86] उन्होने भी उपचारतः राम के युवराज बनाये जाने पर सहमति दी , उनकी सहमति का मूल्य तो इसी से प्रकट हो जाता है कि राम का वनगमन इससे न रूक सका । इक्ष्वाकु वंश की वंशावली से भी यही ज्ञात होता है कि श्रीराम के कई पीढियों पूर्व और बाद भी राजपद आनुवांशिक था और प्रजा को राजा चुनने का अधिकार न था।[87]

---

[83] श0पं0ब्रा0 12.9.3 , 1—13
[84] ऐ0ब्रा0 8.12
[85] वही पृ0 63—64
[86] उद्धत अल्टेकर, ए0एस0, पूर्वोक्त पृ0 64
[87] वही

अल्टेकर महोदय ने रूद्रदामन (130ई0), हर्षवर्धन (606ई0), और गोपाल (750ई0) के निर्वाचित होने के विवरणों को भी कपोलकल्पित , दरबारी कवियों द्वारा वर्णित उल्लेख माना है। उनका कहना है कि इसमें सन्देह नहीं कि रूद्रदामन और गोपाल स्पष्ट रूप से जनता द्वारा निर्वाचित कहे गये हैं , किन्तु यह बात उनकी प्रशस्तियों में उनके दरबारी कवियों द्वारा कही गई है , अतः इसे पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता ।[88] रूद्रदामन के जूनागढ शिलालेख में एक स्थान पर उल्लेख है कि उसने स्वयं अपने पराक्रम से महाक्षत्रप पद प्राप्त किया था।[89] तथा उसी में यह भी वर्णन है कि उसने अनेक प्रान्तों को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था। अतः प्रशास्तिकार की ऐसे प्रसिद्ध विजेता का प्रजा के निर्वाचन के बल पर राजपद प्राप्त करने की बात ऐतिहासिक के बजाय औपचारिक माननी चाहिये ।[90] उसके बाद उसके उत्तराधिकारी वंशानुगत आधार पर ही राजपद प्राप्त करते रहे हैं और किसी ने भी जनता द्वारा निर्वाचित होने का प्रयास नहीं किया। यह सत्य है कि हर्ष को निर्वाचन द्वारा राज्य प्राप्त हुआ किन्तु यह राज्य उसका पैतृक राज्य थानेश्वर न था , बल्कि उसके बहनोई गृहवर्मा का मौरवरि का कन्नौज राज्य था जिस पर उसका कोई हक न था। गृहवर्मा की मृत्यु के बाद मौखरि सिंहासन पर बैठने वाला उस वंश में कोई योग्य व्यक्ति न था। इसलिये मॉखरि अमात्यों ने अपने विधवा रानी के भाई को राज्य देना उचित समझा। इस घटना से ज्ञात होता है कि राज्य के उत्तराधिकारी होने पर अमात्यों और अन्य ऊँचे अधिकारी मृत राजा के सम्बन्धियों में से किसी सुयोग्य व्यक्ति को राजा चुनते थे । जातक कथाओं में भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं , पर इनसे राजा के निर्वाचन की प्रथा सिद्ध नहीं होती।[91]

[88] वही
[89] स्वयमधिगतमाहक्षत्रपनाम्नारूद्रदाम्नाः । जूनागढ शिलालेख।
[90] अल्टेकर , वही पृ0 65
[91] वही

इस सम्बन्ध में पी0वी0 काणे महोदय का भी कहना है कि विजय एवं निर्वाचन के कुछ अपवादों को छोडकर प्राचीन भारत में राजतंत्र आनुवाशिंक था तथा सामान्यतया उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता था।[92]

स्मृतियाँ भी इस सम्बन्ध में आनुवांशिक आधार की ही पुष्टि करती है। मनु का कहना है कि ज्येष्ठ पुत्र के जन्म से ही व्यक्ति पितृऋण से उऋण हो जाता है अतः पिता के समस्त उत्तराधिकार का अधिकारी ज्येष्ठ पुत्र ही होता है।[93] राजा पुत्र को राज्य समर्पित कर युद्ध में प्राण त्याग हेतु प्रस्थान करता था।[94] शत्रु के परास्त होने पर उसके वंश में उत्पन्न व्यक्ति को राजपद पर आसीन किया जाता था।[95] मनु ने वंश परम्परा को स्वीकार करते हुए लिखा है कि पुत्र अपना ही शरीर होता है – पुत्रः स्वका तनुः ।।[96] पुत्रों में भी ज्येष्ठ पुत्र महत्वपूर्ण है क्योंकि ज्येष्ठ ही पिता की अवशेष सम्पत्ति ग्रहण करता है । ज्येष्ठ पुत्र ही संसार में पूज्यतम होता है तथा वही साधुओं के द्वारा अनिन्दित होता है।[97] इससे स्पष्ट होता है कि राजा के उत्तराधिकार के निर्धारण में वंशानुक्रम के साथ ज्येष्ठता का भी सिद्धान्त प्रचलित था।[98]

स्मृतियों में कहीं–कहीं ज्येष्ठ पुत्र को सत्ता का अनधिकारी बताकर कनिष्ठ पुत्र को उसकी योग्यता के आधार पर प्राथमिकता दी गई हैं। इस नियम के कुछ उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते है। महाभारत में धृतराष्ट्र ज्येष्ठ होने पर भी जन्मान्ध होने के कारण राजा नहीं बन सके थे। देवापि और शांतनु का उदाहरण भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है । किन्तु इस प्रकार के उदाहरण अपवाद स्वरूप ही हैं। राजा के उत्तराधिकार का सामान्य सिद्धान्त आनुवांशिक आधार और ज्येष्ठता ही था। स्पष्ट है कि

---

[92] पी0वी0 काणे , धर्मशास्त्र का इतिहास भाग–2 , पृ0 41
[93] पितृषाम नृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति । मनु0 9.106
[94] मनु0 9.323
[95] मनु0 7.202।
[96] मनु0 4.184
[97] मनु0 9.105 , 109
[98] मनु0 7.201

राजा के चयन अथवा निर्वाचन में प्रजा की कोई भूमिका अथवा अधिकार नहीं प्राप्त थे अर्थात राज्य के सर्वोच्च पद राजा को जनता न तो निर्वाचित कर सकती थी और न ही जन सामान्य का कोई व्यक्ति इस पद को प्राप्त कर सकता था।

मन्त्रिमण्डल :— प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य की सात प्रकृतियों अर्थात सात अंगो का उल्लेख किया गया है जिनमें प्रथम स्थान पर यदि राजा है तो द्वितीय स्थान पर अमात्य (सचिव या मन्त्री) को रखा गया है।[99] इसी से मंत्रियों की राजनीतिक स्थिति , आवश्यकता अथवा महत्व का अनुमान किया जा सकता है। मनु ने अमात्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जो कार्य सरल है , वह भी एक व्यक्ति के लिये दुष्कर हो जाता है तो विस्तृत राज्य जो कठिन कार्य है , उसे अकेला राजा सुव्यवस्थित रूप से नहीं चला सकता है । इसलिये राज्य में सुव्यवस्थित संचालन के लिये अन्य व्यक्तियों अर्थात मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिये।[100]

अमात्यों के लिये मनु ने 'सचिव' तथा याज्ञवलक्य ने मंत्री शब्द का प्रयोग किया है। ये दोनो ही स्मृतियों मंत्रियों की नियुक्ति का उल्लेख करती है। राजा की स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबंध लगाने और उसे आवश्यकतानुसार समय पर शासन सम्बन्धी कार्यो में सत्परामर्श एवं सहायता देने के उद्देश्य से मनु ने मन्त्रि मण्डल का विधान किया है । मनु का कहना है कि इस जगती तल पर जो कुछ भी है वह ब्राह्मण ही हैं , क्योंकि ब्राह्मण बह्म का ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र है।[101] मनु ने मंत्रियों को सहायक बताया है । मानव धर्मशास्त्र में राजा को मंत्रियों से परामर्श लेने की सलाह दी गई है । ब्राह्मणों का प्रतिनिधि राजा के समीप स्थायी रूप से रहता है । ब्राह्मण राजा के मुख्यमंत्री या

---

[99] स्वाम्यामात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतियोह्ययेता सप्ताड.ग राज्य मुच्यते ।। मनु0 9.294

[100] अपि यत्सुकर कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किं नु राज्यं महोदयम् ।। मनु0 7.55

[101] मनु0 1.93—1001।

प्रधानमंत्री के पद पर कार्यारम्भ करता है । उसके संरक्षण में रहकर शासन करना तथा उसकी सहायता लेना राजा का अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है।[102]

मनु ने मंत्रिमण्डल के निर्माण की आवश्यकता स्पष्ट करते हुए कहा है कि राज्य की विशालता तथा गुरूतापूर्ण कार्यो के लिये राजा को अपने समीप स्थायी रूप से कुछ व्यक्तियों की नियुक्ति करनी चाहिये , जिनसे वह तुरन्त सत्यपरामर्श एवं उचित सहायता प्राप्त कर सके।

मन्त्रिमण्डल की रचना :– मनु ने मन्त्रिमण्डल के लिये "सचिवान" शब्द का प्रयोग किया है , जो कि बहुवचन की ओर संकेत होता है । मनु ने राजा को मंत्रियो की नियुक्ति करने का आदेश दिया है। मंत्रियों के उचित परामर्श से राज्य की चतुर्दिक उन्नति होती है तथा अनुचित सलाह से राज्य का विनाश सम्भव है। राजा को जिस प्रकार की संगति तथा सलाह मिलेगी वह उसी के अनुरूप कार्य करेगा। इनका इतना महत्व होने के कारण ही प्राचीन राजनीतिक ग्रन्थों में मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

मंत्रियों की संख्या :– राजा के मन्त्रिमण्डल में कुल कितने मंत्री होने चाहिये इस विषय पर प्राचीन राजनीतिक ग्रन्थों में मतैक्य नहीं है । मनु का मत है राजा को सात या आठ मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिये।[103] वाल्मीकि रामायण में दशरथ के शासन में कर्तव्यनिष्ठ तथा विश्वासी आठ मंत्री थे । बृहस्पति ने सोलह तथा औशनस ने बीस सदस्यों को नियुक्त करने का परामर्श दिया है।[104] मनु का कथन है कि जितने

---

[102] मनु0 7.55

[103] सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान ।। मनु 7.54

[104] अर्थ0 वार्ता0 15.53 – 55 ।

सदस्यों से कार्य पूरा होता हो उतने ही आलस्य रहित , कार्य करने में उत्साही तथा काम के जानकार मनुष्यों को मंत्री पद पर नियुक्त करना चाहिये।[105]

मन्त्रियों का चयन :– स्मृतियों में मन्त्रियों के लिये कुछ योग्यताओं का होना अनिवार्य बताया गया है जिनके होने पर किसी व्यक्ति को मंत्री नियुक्त किया जा सकता था।

क – ज्येष्ठ कुल में जन्म :– मनु ने राजा को उच्च एवं कुलीन वंश में उत्पन्न मन्त्रियों के चयन का निर्देश दिया है।[106]

ख – शास्त्रों का ज्ञान – मन्त्रियों को धर्मशास्त्र , अर्थशास्त्र और काम शास्त्रों के विधिवत् ज्ञान से पूर्ण होना आवश्यक था । मनु ने शास्त्रों के ज्ञाता मंत्रियों के नियुक्ति का आदेश दिया है।[107] याज्ञवलक्य ने मंत्रियों को ज्ञानी होने का निर्देश दिया है।[108]

ग – शौर्य – मनु ने मंत्रियों में शौर्य गुण की योग्यता पर भी बल दिया है । शूरवीर मनुष्य संकट में भी अपने कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होते है।[109] याज्ञवलक्य ने धैर्यवान पुरूषों की योग्यता को महत्व दिया है।[110]

घ – उद्देश्य प्राप्त करने में समर्थ – दृढ संकल्प वाले मनुष्य ही किसी रचनात्मक कार्य को पूर्ण कर सकते हैं। अतः मनु ने लक्ष्य प्राप्त कर पाने में समर्थ व्यक्तियों को ही मंत्री पद पर नियुक्त करने का निर्देश दिया है।[111]

मनु ने मंत्रियों की नियुक्ति से पहले उन्हे भली भांति परीक्षित करने को कहा है।मंत्रियों को परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर पद के लिये मनोनीत किया जाता था । मनु ने राजा को निर्देश दिया है कि उसे मन्त्रिपरिषद में सुपरीक्षित व्यक्ति की ही नियुक्त करनी

---

[105] तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ।। मनु0 7.61
[106] कुलोद्गतान! – मनु0 7.62 , कुलोद्भावान् – मनु0 7.54 ।
[107] शास्त्रविदः – मनु0 7.541
[108] प्रकूर्वीत प्राज्ञान् – याज्ञ0 1.312
[109] शूरान् – मनु0 7.54 ।
[110] याज्ञ0 1.312
[111] लब्ध लक्षान् – मनु0 7.54

चाहिए।[112] इन योग्यताओं के अतिरिक्त मंत्रिमण्डल के सदस्यों को पराक्रमी , शस्त्रविद्या में निपुण , शिल्पविद्या में निपुण होना आवश्यक था।[113] याज्ञवलक्य ने ज्ञानी वंश परम्परा से चले आने वाले मन्त्रियों , धैर्यवान एवं पवित्र पुरूषों का चयन करने को कहा है।[114] इसके अतिरिक्त मंत्रियों में राजा के अनुकूल बर्ताव करने की क्षमता तथा अच्छी स्मरण शक्ति और सूक्ष्मदर्शिता से युक्त होना आवश्यक था। मंत्रियों को कार्यपुट , सुवक्ता , शीघ्र प्रबन्ध करने की योग्यता , क्लेश सहन करने की शक्ति , स्नेह युक्त , शीलवान और आरोग्य तथा मानसिक शक्ति से सम्पन्न जड़ता और चपलता से रहित, सर्वप्रिय, व्यर्थ किसी से बैर न करने वाले गुणों से युक्त होना चाहिये।[115]

मनु का कथन है कि मंत्रियों को राजा के प्रति दृढ़ भक्तिवाला होना चाहिये। श्रेष्ठ आचरण करना सदस्यों की प्रमुख योग्यता थी । मंत्रियों को काम , क्रोध , लोभ आदि बुराइयों से विचलित होकर पथभृष्ट नहीं होना चाहिए । चरित्र , बुद्धि ,प्रतिभा तथा भक्ति सम्बन्धी गुणों का समावेश आवश्यक माना गया है। मनु ने वंश परम्परा से चले आये मंत्रियों , शास्त्रज्ञाता , शूरवीर , शास्त्र विद्या में निपुण , श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न तथा जाँच किये हुए सात , आठ मंत्रियों के चयन का आदेश दिया है।[116]

मनु का कथन है कि राजा विद्वान , धर्म तथा सद्गुणों से युक्त ब्राह्मण मन्त्री के साथ मत्रंणा करें।[117] अन्य मंत्री शुद्ध हृदय वाले , बुद्धिमान , स्थिर चित्त वाले तथा श्री की वृद्धि करने वाले हों , ऐसे मंत्रियों की परीक्षा लेकर नियुक्ति करनी चाहिये।[118] मंत्रियों के चयन में उनका चरित्रवान होना आवश्यक था।

---

[112] प्रकुर्वीत परीक्षितान् – मनु0 7.54
[113] मनु0 7.54
[114] स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्रज्ञान् मौलान् स्थिरान शुचीन् । याज्ञ0 1.312
[115] मनु0 7.54 , 58
[116] मनु0 7.54
[117] मनु0 7.58
[118] अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थ समाहर्तृन अमात्यान् सुपरीक्षितान् ।। मनु0 7.60

जहाँ तक मंत्रियों की आयु का सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में स्मृतियों में कोई उल्लेख नहीं है। राजा को सचेत किया गया है कि वह वेदज्ञों में श्रेष्ठ तथा तपस्या से उन्नत हुए ब्राह्मणों के साथ मंत्रणा करे। राजा को वृद्धों की सेवा करने को कहा गया है । वृद्ध ब्राह्मण बुद्धि तथा अनुभव से परिपक्व होते थे , इसी कारण वे मंत्री पद पर आसीन होकर कठिन समस्याओं का निराकरण आसानी से कर लेते थे ।

मन्त्रणा :— सभी राजनीतिक ग्रन्थों में राजा को मंत्रियों से परामर्श लेने की राय दी गई है। मनु ने राजा को मंत्रियों से सामूहिक और अलग–अलग दोनों रूपों में मंत्रणा करने को कहा है । अलग–अलग समान भाव न होने के कारण राजा को उनके अभिप्राय को जानकर मति से जो श्रेष्ठ ज्ञात हो उसे कार्यान्वित करना चाहिये।[119] याज्ञवलक्य का कथन है कि राजा मंत्रियों से सलाह ले तथा अपनी बुद्धि से कर्तव्य का चिन्तन करें।[120] मनु का कहना है कि राजा स्वयं अन्तिम निर्णय करे। किन्तु एक अन्य स्थान पर सम्पूर्ण कार्य ब्राह्मण मंत्री को सौप देने की बात कही गई है । इससे स्पष्ट है कि राजा निर्णय मंत्रियों के परामर्श से करता था। प्रजा का हित चिन्तक राजा मंत्रियों के परामर्श की अवहेलना नहीं कर सकता था । मंत्रीगण अपने विभागों का अच्छी तरह संचालन करते थे । इस कारण राज्य की श्री वृद्धि के लिये राजा देश तथा काल के विषय में उनसे परामर्श करता था।

ब्राह्मण मंत्री का महत्व :— प्राचीन भारतीय ग्रन्थों तथा स्मृतियों ने ब्राह्मण मंत्रियों पर विस्तार से प्रकाश डाला है । याज्ञवलक्य का कथन है कि राजा ब्राह्मण को पुरोहित बनाये। पुरोहित ज्योतिषशास्त्र का ज्ञाता , धर्मशास्त्र का ज्ञानी , शान्त कर्म व यज्ञानुष्ठान करने वाला होना चाहिये। इसके अलावा उसे दण्डनीति में कुशल होना चाहिए

---

[119] मनु0 7.57

[120] तैः सार्धं चिन्तयेद् राज्यं विप्रेणाय ततः स्वयम् । याज्ञ0 1.312

। इन्ही योग्यताओं के कारण वह राजा को समय–समय पर राजकार्यो में अपना परामर्श देता था।[121]

श्री एस वरदाचार्य का कथन है कि पुरोहित पुरातन काल में राजत्व की शक्ति का परिचायक था । उसका प्रभाव प्रत्येक सामाजिक कार्य में था । न्यायकार्य तथा राजकीय कार्य में उसका महत्वपूर्ण स्थान था।[122] विष्णु स्मृति के अनुसार ब्राह्मण पुरोहित को वेद , इतिहास तथा धर्मशास्त्रों में पारंगल होना चाहिये। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्राह्मण पुरोहित के गुणों की चर्चा की गई है।[123] उसे कुलीन तथा तपस्वी के गुणों से युक्त होना चाहिए।[124] ऐतरेय ब्राह्मण ने पुरोहित को 'राष्ट्रगोप' अर्थात राष्ट्र का रक्षक माना है।[125] याज्ञवलक्य ने अमात्य के अन्तर्गत पुरोहित को माना है।[126] कुछ ग्रन्थों में पुरोहित को मंत्रियों से अलग रखा गया है।

वाल्मीकि रामायण में राम के वन गमन के बाद तथा दशरथ की मृत्यु के बाद अमात्यों आदि ने ऋषि वशिष्ठ से किसी को राजगद्दी पर आरूढ़ करने को कहा।[127] इससे पुरोहित का समाज पर अधिकार तथा महत्व प्रदर्शित होता है।

मनु का निर्देश है कि पुरोहित को यज्ञ तथा शान्ति–कर्म करना चाहिये।[128] इस प्रकार पुरोहित ऋत्विक का कार्य भी करता था । मनु ने पुरोहित तथा ब्राह्मण मंत्री को अलग–अलग स्थान दिया है । ब्राह्मण मंत्री के साथ राजा को षाड्गुण्य पर मंत्रणा करनी चाहिये। राजा को ब्राह्मण मंत्री पर पूरा विश्वास रखना चाहिये और सब कार्यभार उस पर छोड देना चाहिये। उसके सलाह के अनुसार राजा को कार्यारम्भ करना

---

[121] पुरोहितंच कुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम् ।
दण्ड नित्यांच कुशलमथर्वा डित्रगग्रसे तथा ।। याज्ञ0 1.313

[122] हिन्दू ज्यूडिसियल सिस्टम पृ0 73

[123] आप0धर्म0 2.5.10.16

[124] वेदेतिहास धर्म शास्त्र कुशल कुलीनम व्यंगं तपस्विन पुरोहित च वरयेत् ।

[125] ऐत0 ब्रा0 40.2

[126] याज्ञ0 1.353

[127] वा0रा0 अयो0 38.11

[128] पुरोहित चकुर्वीत बृणुयादेव चातिर्वजः।
तदेस्य गृहयाणी कर्माणि कुर्युर्वेतानिकानि च। मनु0 7.78

चाहिये।[129] मनु ब्राह्मण मंत्री के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहते है कि यदि राजा विवादों का निर्णय करने में असमर्थ हो तो उस कार्य के लिए ब्राह्मण मंत्री नियुक्त करना चाहिये।[130] आधुनिक युग के प्रधानमंत्री से ब्राह्मण मंत्री की तुलना की जा सकती है।

महाभारत में ब्राह्मण मंत्री का पुरोहित के रूप में वर्णन प्राप्त होता है । जो राजा पुरोहित रहित है वह उच्छिष्ट के समान है। राजा में रजोगुण प्रधान है तथा ब्राह्मण सत्वगुण प्रधान होता है। इस प्रकार दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के कारण धर्मशास्त्र की मर्यादानुकूल शासन व्यवस्था रहेगी। इस कारण दोनों की अलग–अलग व्यवस्था नहीं की जा सकती।[131] ब्राह्मण में तप और मन्त्र की शक्ति होती है । क्षत्रिय के अस्त्र और बाहुबल हैं। दोनो की संयुक्त शक्ति से की प्रजा का पालन भली भांति हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण इस बात की ओर संकेत करते हैं कि प्राचीन भारत में मंत्री पद पर राजा के द्वारा नियुक्ति / मनोनयन किया जाता था। वह निर्वाचित कदापि नहीं होता था। अर्थात राज्य के दूसरे महत्वपूर्ण पदाधिकारियों, मंत्रियों के चयन में आम जनता के मत का कोई योग नहीं होता था। इस पद पर व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर पहुँच सकता था। सामान्य रूप से योग्य एवं कुलीन व्यक्तियों की नियुक्ति होती थी । मंत्रियों में ब्राह्मण मंत्री विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता था।

इस प्रकार स्मृतियों में राजनीतिक अधिकारों के सन्दर्भ में मत देने और निर्वाचित होने के अधिकार का कोई विशेष महत्व नहीं था क्योंकि शीर्ष राजनीतिक पद या तो वंशानुगत आधार पर प्राप्त किये जाते थे अथवा योग्यता के आधार पर नियुक्ति से प्राप्त होते थे। आधुनिक लोकतंत्रो की भाँति सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था नही थी।

---

[129] मनु0 7.8 , 59 ।

[130] तदा नियुंज्याद् विद्वांसं ब्राह्मण कार्य दर्शने ।। मनु0 8.9 ।

[131] महा0 शान्ति 73.1–13 , 1–16

सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार :–

प्राचीन भारत में सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति का मापदण्ड योग्यता था। पश्चिम के तथाकथित उन्नतिशील राज्यों की सार्वजनिक सेवाओं में कुछ समय पूर्व तक भर्ती की पद्धति अनेक दोषों से युक्त थी , किन्तु प्राचीन भारत में इन दोषों से बचने का पूरा उपाय किया गया था । अधिकारियों की नियुक्ति के प्रमुख आधार योग्यता और सदाचरण थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रकरण 25 अध्याय 9 में कहा : छोटे–छोटे पदाधिकारियों का नाम "युक्त" है और उच्च पदाधिकारियों का नाम "उपयुक्त" है। सभी उच्च पदस्थ अधिकारियों को अमात्य गुणों से युक्त होना चाहिये उन्हें शक्ति और योग्यता के अनुसार पदों पर नियुक्त करना चाहिये। " अमात्य सम्पदोपेताः सर्वाध्यक्षाः शक्तितः कर्मसु नियोज्या :" । साथ ही सभी प्रकार के कर्मचारियों को राजा उनकी विद्या , बुद्धि , साहस , गुण तथा देशकाल , पात्र का विवेचन करके अमात्य पद पर नियुक्त करे , किन्तु मंत्री कदापि न बनाये।

राजा अमात्यों को साधारण पदों पर नियुक्त करके मंत्री व पुरोहित के साथ अग्रलिखित चार उपायों द्वारा अमात्यों की परीक्षा ले । प्रथम, धर्मोपधा अर्थात धर्म के द्वारा अमात्य के हृदय के पवित्रता की परीक्षा लेना । दूसरा अर्थोपधा, अर्थात धन का लोभ देकर परीक्षा लेना । तीसरा , कमोधा , स्त्री समागम द्वारा परीक्षा लेना । चौथा भयोपधा अर्थात गुप्त उपायों द्वारा अमात्यों की शुचिता (पवित्रता) की परीक्षा लेना। इन उपायों द्वारा परीक्षित अमात्यों में जिनकी परीक्षा धर्मोपद्या द्वारा हुई हो , उन्हें व्यवहार स्थापन और विवाद लिखने तथा व्यवसाय का काम देना चाहिये। जिन्हे अर्थोपधा परीक्षा द्वारा पवित्र पाया गया हो , उन्हे कर वसूली और कोष का काम देना चाहिये। जिन व्यक्तियों को कमोपधा परीक्षा द्वारा शुद्ध पाया गया हो उन्हे रनिवास की सुरक्षा का कार्य सौपना चाहिये। भयोपधा से शुद्ध पाये गये अमात्यों को राजा अपना अंगरक्षक बनाये। जिन

अमात्यों की परीक्षा सभी उपायों द्वारा ली गई हो , उन्हे मंत्री पद प्रदान करना चाहिये। जो हर प्रकार की परीक्षाओं से अपवित्र सिद्ध हुए हो उन्हे खदानों या जंगलों का काम देना चाहिये , जिससे हाथी तथा अन्य जंगली जानवरों का सम्पर्क रहे और अधिक परिश्रम करना पड़े । विभिन्न आचार्यो ने यही परामर्श दिया है कि धर्म , अर्थ , काम और भय द्वारा परीक्षा किये जाने पर पवित्र अमात्यों को यथायोग्य पदों पर नियुक्त किया जाय।[132]

मनु और याज्ञवलक्य ने भी राज्य के विभिन्न वर्गो के अधिकारियों के लिये योग्यताओं का वर्णन किया है। दोनों का ही कहना है कि नियुक्ति विभिन्न पदों के लिये आवश्यक योग्यताओं के आधार पर की जानी चाहिये। सोमदेव सुरि ने नीति वाक्यामृत में कहा है कि किसी व्यक्ति को उसी पद पर नियुक्त करना चाहिये जिसके लिये वह योग्य हो , क्योंकि यदि कोई व्यक्ति विभिन्न शास्त्रों का ज्ञाता हो किन्तु उसे आवश्यक अनुभव न हो तो वह अपने कर्तव्यों का भली प्रकार से पालन नहीं कर सकता ।

अधिकारी किस जाति के होने चाहिये । इस सम्बन्ध में शुक्र का मत है कि जो दस पुरोहित आदि कहे हैं वे सब ब्राह्मण ही होने चाहिये , किन्तु यदि ब्राह्मण न मिले तो क्षत्रिय और क्षत्रिय भी न मिलें तो वैश्य होने चाहिये। गुण वाले शूद्रों को पुरोहित आदि पदवियों पर नहीं नियुक्त करना चाहिये। साहस की पदवियों पर क्षत्रियों को नियुक्त किया जाय। ग्राम का अधिपति ब्राह्मण और लेखक कायस्थ , शुल्क का अधिपति वैश्य और प्रतिहार (दूत) शूद्र को नियुक्त करना चाहिये। किन्तु विनय सरकार का मत है कि कौटिल्य एवं शुक्र ने सरकारी सेवाओं का आधार योग्यता और क्षमता रखा है । सेना तथा अन्य सेवाओं में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को योग्यता के आधार पर भर्ती हो किया जाना चाहिये , शूद्रों को योग्यता की कमी के कारण उच्च्व पदों से अलग रखा है। विभिन्न

---

[132] अर्थशास्त्र 1:8 – 10

प्रकार की सेवाओं के लिये भिन्न–भिन्न जाति से भर्ती हो ऐसी बात न थी।[133] इस प्रकार विभिन्न सरकारी उच्च पदों पर सामान्य रूप से ब्राह्मण , क्षत्रिय और वैश्यों से नियुक्ति की प्रथा प्रचलित थी।

प्रशासन के विभाग – प्राचीन भारतीय प्रशासन अनेक विभागों , में विभक्त होता था। इन्ही विभागों के अधीक्षकों / अधिकारियों के रूप में लोगों को सार्वजनिक सेवा में आने का अवसर मिलता था। जैसा कि स्वाभाविक ही है प्रारम्भिक काल में तथा छोटे राज्यों में प्रशासन के विभागों की संख्या बहुत कम थी। विष्णु स्मृति में खान , चुंगी , नौका , और हाथी केवल इन्ही चार विभागों का उल्लेख है। प्रागैतिहासिक कश्मीर राज्य में सात विभाग थे , अशोक के पुत्र जलौक में उनकी संख्या बढाकर 18 कर दी थी । लगभग नवम् शताब्दी के बाद ललितादित्य ने इनकी संख्या 23 कर दी थी।[134] रामायण (अयोध्या काण्ड 100) और महाभारत में अठारह विभागों या तीर्थो का उल्लेख बराबर किया गया है। किन्तु इनके नाम नहीं दिये गये हैं । तैत्रीरीय संहिता तथा तैत्तीरीय ब्राह्मण में केवल आठ मुख्य अधिकारियों का उल्लेख है , जो अलग–अलग विभागों के उच्च अधिकारी थे । पंचविशं ब्राह्मण में भी आठ वीर उल्लिखित है , जिनमें पुरोहित , महिषी , सूत , ग्रामणी , क्षत्र , संग्रहीता , आदि को सम्मिलित किया गया है ।[135]

महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ के मतानुसार अठारह तीर्थ थे [136] –मंत्री पुरोहित , चमुपति (सेनापति) द्वारपाल, अन्तर्वेर्षिक (अन्तः पुर का अधिकारी) कारागाराधिकारी , द्रव्य संचयकृत, कृत्याकृत्येष्वर्थाना (योग्य अयोग्य कार्यो का विनियोग), प्रदेष्टा, नगराध्यक्ष , कार्य निर्माणकृत , राष्ट्रान्तपाल , अटवीपाल ,

---

133 बी0के0 सरकार , द पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एण्ड थ्योरीज ऑफ हिन्दूज , पृ0 189–191

134 परमात्मा शरणं , प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं सस्थायें , मीनाक्षी प्रकाशन , मेरठ 1979 पृ0 428

135 शिवदत्त ज्ञानी , भारतीय संस्कृति प्र0 189

136 परमात्मा शरण , पूर्वोक्त ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तीर्थो को महामात्य कहा गया है , जो उच्च व निम्न विभागों के अध्यक्ष थे । उनके नाम थे – मन्त्री , पुरोहित , सेनापति (युद्ध मंत्री) , युवराज , दौवारिक (द्वारपाल), अर्न्वेशिक , प्रशास्त (छावनी का रक्षक), समाहर्ता , सन्निधाता , (कोषाध्यक्ष) , प्रदेष्टा (कमिनश्नर), नायक (सूबेदार) , दण्डपाल , दुर्गपाल , अन्तपाल , कामन्तिका , पौर (नगर कोतवाल), व्यावहारिक (बाजार अधिकारी) , कार्तान्तिक (खदानों का प्रभारी) , मन्त्रिपरिषद का सभापति और आटविक (वनो का अधीक्षक) इन अठारह तीर्थो के अस्तित्व का उल्लेख पंचतंत्र रघुवंश और शिशुपाल वध में भी मिलता है।[137]

एन0एन0लॉं के मतानुसार राज्य के कार्यो के अठारह तीर्थो में परम्परागत विभाजन का कारण सम्मवतया यह है कि राज्य के प्रायः सभी कार्य उनके भीतर आ जाते हैं और उनके सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं , यथा राज्य के नीति सम्बन्धी प्रश्न पर विचार , राजा की सहायता , देश में न्याय प्रशासन , आन्तरिक शक्ति और बाह्य सुरक्षा , राज्य के करों की वसूली और जनता के भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति।[138] सोमदेव सूरि ने नीति वाक्यामृत के अध्याय दो में तीर्थो की परिभाषा देते हुए कहा है कि वे राज्य के कार्यपालिका कार्यो के कार्यभार तथा कानूनी अधिकारी है– " धर्म समवायिनः कार्य समवायिनश्च पुरूषाः तीर्थम् ।" डा0 जायसवाल का मानना है कि तीर्थो का अर्थ विभागों के धारणकर्ता अर्थात उनके मुख्य अधिकारियों से हैं । तीर्थ का शाब्दिक अर्थ नदी के उस उथले भाग से है जिससे होकर नदी को पार किया जा सके अर्थात रास्ता । मन्त्रियों तथा विभागों के अध्यक्षों को यह नाम सम्भवतः इस कारण से मिला कि उनके द्वारा होकर ही उनके विभागों को आदेश जारी होते थे ।[139]

---

[137] वही

[138] एन0एन0लॉ , आस्पेक्टस ऑफ एन्सिएन्ट इन्डियन पोलिटी , पृ0 88

[139] के0पी0 जायसवाल , हिन्दू पोलिटी , पृ0 290

यूनानी लेखकों ने भारतीय प्रशासन के जो वर्णन दिये हैं उनसे ज्ञात होता है कि उन्होने प्रशासन के अनेक और भिन्न–भिन्न पहलुओं को देखा था। उनके द्वारा अधोलिखित विभागों का उल्लेख हुआ है।[140]

1. मंत्री और परामर्शदाता 2. भूमिकर तथा अन्य कर 3. मुख्य अधिकारी (विभागों व नगरों के अध्यक्ष)

4. सिंचाई 5. भूमि व्यवस्था विभाग 6. कृषि , 7. वन 8. इमारती लकड़ी के कारखाने 9. धातु उद्योग

10. खनिज	11. शहरी कारखाने
12. नगरों में विदेशी लोग	13. नगरों के सराय
14. जन्म मरण के आँकड़ें	15. बीमारों की देखभाल
16. बाजार का नियंत्रण	17. नाप और तौल
18. सार्वजनिक कार्यो के नियंत्रक	19. पुजारी – पुरोहित
20. ओवरसियर	21. कोषाध्यक्ष
22. न्यायाधीश	23. पशु चराने वाले अधिकारी
24. अस्त्र–शस्त्र बनाना	25. जहाज बनाने वाले

26. कृषि के औजार बनाने वाले

27. नहरों और नदियों के पानी को सिंचाई के लिये वितरित करने वाले अधीक्षक

28. घोड़े , हाथी और रथ ।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रशासन के भूमिगत विभागों – प्रान्तों (जनपदों ,)जिलों और अन्य क्षेत्रों के अधिकारियों तथा पूर्व वर्णित अट्ठारह तीर्थो के अतिरिक्त अनेक अधीक्षकों के नाम दिये हैं और उनके कार्यो का विस्तृत विवेचन किया है। अर्थशास्त्र के प्रथम खण्ड के दूसरे अधिकरण में जिसका शीर्षक " अध्यक्ष प्रचार " है विभिन्न विभागों

---

[140] परमात्मा शरण , पूर्वोक्त , पृ0 429

और उनके मुख्य अधिकारियों तथा अधीक्षकों का विस्तृत वर्णन है । इसे संक्षेप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

1. **अन्तपाल** – राज्य की सीमा का रक्षक ।
2. **सन्निधाता (कोषाध्यक्ष)** – इसको चाहिये कि वह कोष गृह , भण्डारागार , कुप्यगृह , शस्त्रागार और कारागार का निर्माण कराये।
3. **समाहर्त्ता** – इसका कार्य कर संग्रह है।
4. **अक्षपतल** – आय और व्यय का अध्यक्ष ।
5. खदानों का अध्यक्ष ।
6. **सुवर्णाध्यक्ष** – सोना , चांदी , तांबा आदि को जिस स्थान पर शुद्ध करके उपयोग के योग्य बनाया जाता था , उसे अक्षशाला कहते थे और उसका अध्यक्ष सुवर्णाध्यक्ष कहलाता था।
7. **कोष्ठागाराध्यक्ष** – प्रत्येक प्रकार की खाद्य वस्तु को कोष्ठ कहते थे , ये वस्तुयें जहां रखी जाती थी उसे कोष्ठागार कहते थे और इसके अध्यक्ष का नाम कोष्ठागाराध्यक्ष था।
8. **पण्याध्यक्ष** – बिकी की जाने वाली सरकारी वस्तुएँ पण्य कहलाती थी । ऐसी वस्तुओं को खरीदने और बेचने के लिये नियुक्त अधिकारी पण्याध्यक्ष कहलाता था।
9. **कुप्याध्यक्ष** – चन्दन , बांस , पलाश आदि की लकडियाँ कुप्य कहलाती थी । उनकी रक्षा के लिये नियुक्त अधिकारी कुप्याध्यक्ष होता था।
10. **आयुधागाराध्यक्ष** – जहाँ शस्त्रास्त्र रखे जाते थे उसे 'आयुधागार' कहते थे । इसके प्रधान रक्षक को आयुधागाराध्यक्ष कहते थे।
11. **शुल्काध्यक्ष** – राजा की ओर से ली जाने वाली चुंगी शुल्क कहलाती थी । इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी शुल्काध्यक्ष होता था।

12. **सूत्राध्यक्ष** – सूत कातने , बुनने की व्यवस्था और निरीक्षण करने वाला अधिकारी सूत्राध्यक्ष होता था।
13. **सीताध्यक्ष** – खेती के काम की जांच करने वाला अधिकारी सीताध्यक्ष कहलाता था।
14. **सुराध्यक्ष** – प्रत्येक प्रकार की मदिरा ,'सुरा' कहलाती थी । इसके बनाने और बिकवाने की व्यवस्था करने वाला अधिकारी सुराध्यक्ष कहलाता था।
15. **सूनाध्यक्ष** – वधशाला को 'सुना' कहते थे । उसकी देखरेख के लिये नियुक्त अधिकारी सूनाध्यक्ष होता था।
16. **गणिकाध्यक्ष** – वैश्यालयों की व्यवस्था और देखरेख करने वाला अधिकारी गणिकाध्यक्ष होता था।
17. **नावाध्यक्ष** – नौकाओं से कर वसूलने वाला अधिकारी ।
18. **गौ–अध्यक्ष** – पशुओं की देखरेख करने वाला प्रधान अधिकारी ।
19. **अश्वाध्यक्ष** – राजा के घुड़साल के घोड़ों की रक्षा व निगरानी करने वाला अधिकारी।
20. **हस्त्यध्यक्ष** – राजा के हाथियों का प्रधान प्रबन्धक।
21. **रथाध्यक्ष** – सेना के रथों का प्रधान रक्षक
22. **पत्याध्यक्ष** – पैदल सेना का प्रमुख अधिकारी ।
23. **मुद्राध्यक्ष** – सरकारी मुद्राओं का निर्माण संग्रह व व्यवस्था करवाने वाला अधिकारी

विभिन्न लेखकों और ग्रन्थों के आधार पर विकसित प्रशासन पद्धति में प्रमुख प्रशासन विभाग और उनके मुख्य अधिकारी इस प्रकार थे[141] –

---

[141] परमात्माशरण , पूर्वोक्त , पृ0 30–31

1. **राजमहल विभाग** – इसके प्रमुख अधिकारी को शुक्रनीति में 'सौधगेहाधिप' कहा गया है। इसके अतिरिक्त इस विभाग में राजवैद्य जिसे शुक्रनीति में सम्भवतः " आरामाधिप" कहा गया है, कंचुकी जो अवस्था में वृद्ध और राजा का विश्वासपात्र होता था और अन्तःपुर का प्रबन्ध अधिकारी होता था , आदि प्रमुख थे ।
2. **सेना विभाग** – यह निःसन्देह अत्यन्त महत्वपूर्ण विभाग था । इसके प्रमुख अधिकारियों में सेनापति या महासेनापति या महाबलाधिकृत के अतिरिक्त अश्वपति , हस्त्यध्यक्ष , आयुधागाराध्यक्ष आदि प्रमुख अधिकारी होते थे।
3. **परराष्ट्र विभाग** – इसके मुख्य अधिकारी को " महासन्धिविगृहिक " कहा गया है। स्मृतियों में इसे दूत कहा गया है।
4. **माल विभाग** – इसके अध्यक्ष के अधीन सीताध्यक्ष , अरण्याध्यक्ष , विवीताध्यक्ष (ऊसर भूमि के लिये अधिकारी) कोषाध्यक्ष और अक्षपटल आदि होते थे।
5. **आय–व्यय विभाग।**
6. **राज्य उद्योग और व्यवस्था का विभाग** – इसके अन्तर्गत सूत्राध्यक्ष (शुक्रनीति में वस्त्राध्यक्ष) व सुराध्यक्ष आदि अधिकारी काम करते थे।
7. **पुलिस व गुप्तचर विभाग।**
8. **राज्य की खानों का विभाग** ।
9. **वाणिज्य विभाग** – इसके अन्तर्गत पण्याध्यक्ष , शुल्काध्यक्ष आदि होते थे।
10. **न्याय विभाग** – इसका मुख्य अधिकारी " प्राड्विवाक " या प्रधान न्यायाधीश होता था।
11. **धर्म विभाग** – यह पुरोहित और पण्डितों के अधीन होता था।

मनु ने राष्ट्र के सुव्यवस्थित संचालन के लिये शासन–व्यवस्था का विधान किया है। शासन व्यवस्था में राष्ट्र को छोटे तथा विशाल भू–भाग को बांटकर संघटित

करने का प्रयास किया है। मनु ने एक गाँव , दस गाँव , बीस गाँव , सौ तथा सहस्त्र ग्रामों के अलग–अलग संघटन करने के लिये विभागाध्यक्षों का उल्लेख किया है।[142]

इस प्रकार मनु ने एक ग्राम के अध्यक्ष को ग्रामिक , दश ग्राम के अधिपति को 'दशाधिपति' कहा है। बीस ग्रामों का अध्यक्ष 'विंशति' तथा सौ ग्रमों का अध्यक्ष 'शती' तथा हजार गाँवों का अध्यक्ष 'सहस्त्राधिपति' के नाम से जाना जाता था। नगर का अध्यक्ष 'सर्वार्थचिन्तक' कहलाता था। इसके अतिरिक्त स्मृतियों में कोशाध्यक्ष ,अन्तःपुर का अधिकारी , राजदूत पुरोहित तथा राज्यमंत्री का उल्लेखं मिलता है । स्मृतियों में वर्णित प्रमुख अधिकारियों का विवरण निम्नवत है –

1. **कोशाध्यक्ष** – मनु का कथन है कि शूरवीर , उत्साही , कुलीन तथा कुलक्रमागत व्यक्ति को ही कोशाध्यक्ष बनाना चाहिये। इसे रिश्वतखोर या गबनकर्ता नहीं होना चाहिये । यह शुद्ध हृदय वाला होना चाहिये। उक्त गुणों से युक्त व्यक्ति को कोशाध्यक्ष के पद पर नियुक्त करना चाहिये।[143]
2. **ग्रामपति** – मनु तथा याज्ञवलक्य स्मृति कालीन शासन व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। कृषि प्रधान देश होने के कारण गाँवो को प्राथमिकता दी गई है। अतः गांवो के अम्युदय तथा उत्कर्ष के लिये प्रशासन सदैव तत्पर रहा है।

प्राचीन भारत में राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई या संस्था ग्राम थी । गाँव के सुव्यवस्थित शासन संचालन हेतु एक अधिकारी नियुक्त किया जाता था जिसे मनु ने 'ग्रामिक' नाम से सम्बोधित किया है। ग्रामिक का कर्तव्य था कि वह अपने अधीनस्थ

---

[142] ग्रामस्याधि पतिं कुर्यात् दशग्राम पतिं तथा।
विशतीशं शतीशं च सहस्त्र पतिमेव च ।। मनु0 7.115

[143] तेषामर्थे नियुंजीत शुरान्दक्षान्कुलोद्गतान् । मनु0 7.62

ग्राम में उत्पन्न हुई भोग की सम्पूर्ण सामग्री में से राजांश का संचय कर उसे दश ग्रामों के अधिपति के पास भेजे ।[144]

ग्राम पति का कार्य गांव में फैली अव्यवस्था तथा बुराइयों को दूर करना था। गांव में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना , गाँव की चोर तथा डाकुओं से सुरक्षा करना ग्रामिक का कार्य था। चोर आदि तत्वों से अशान्ति फैलने पर इसके निवारणार्थ दश गाँवो के अधिपति ये सम्पर्क करके अशान्ति का निवारण करना इसका कार्य था।[145] मनु के अनुसार ग्राम पति की जीविका ग्रामवासियों पर निर्भर थी । ग्राम वासी राजा के लिये जो अन्न , ईधन आदि देते थे वे गाँव के रक्षक ग्रामिक के पास रखी जाती थी ।[146] स्मृतियों के अनुसार ग्राम के इस अधिकारी का प्राचीन काल में बहुत अधिक महत्व था।

2. दशाधिपति :— मनु ने ग्राम के पश्चात् दस गाँवो के संघटन का निर्देश दिया है। दस ग्रामों में सामूहिक शान्ति तथा सुरक्षा आदि की सुव्यवस्था के लिये मनु ने दशाधिपति की नियुक्ति का उल्लेख किया है , इसके अधीन दस ग्रामों का समूह होता था। ग्रामिको द्वारा प्रेषित अव्यवस्था अशान्ति तथा समस्याओं का निवारण करना दशाधिपति का कार्य था। ग्रामिकों के कार्यो का निरीक्षण भी इसके कार्यो में सम्मिलित था।[147] मनु ने व्यवस्था दी है कि दशग्रामपति को एक कुल का उपयोग करना चाहिये । यही उसका वेतन है ।[148] इस प्रकार दशाधिपति की जीविका भूमि पर निर्भर थी।

---

[144] यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्राम वासिभिः ।
अन्नयानेन्धनादीनि ग्रामिक स्तान्यवाप्नुयाद् ।। मनु0 7.118

[145] ग्राम दोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद ग्रामदशेशाय दशेशों विशंती शिने ।। मनु0 7.116

[146] मनु0 7.118

[147] ग्रामस्याधिपति कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा । मनु0 7.115–116

[148] दशी कुलं तु भुंजीत विंशी पंज कुलानि च । मनु0 7.119

कुल्लूक भट्ट के अनुसार छः हलों द्वारा जोतने योग्य भूमि 'मध्यम हल' कहलाती है। दो मध्यम हलों द्वारा जोतने योग्य भूमि कुल कहलाती है।[149] इस भूमि से दशाधिपति की जीविका चलती थी । यदि वह भूमि के उपजाऊ तथा अन्न आदि के ऊपर ध्यान न दे तो उसकी जीविका चलनी कठिन थी । इसी कारण उसे भूमि पर विशेष ध्यान देना पड़ता था । इससे गांव की उन्नति होती थी और खुशहाली तथा प्रसन्नता आती थी ।

4. विशंति – दस ग्रामों के संघटन के पश्चात बीस ग्रामों का संघटन दिया जाता था। मनु ने बीस ग्रामों के अधिपति को विशंति ' नाम से सम्बोधित किया है। यह शासन की तीसरी इकाई थी। यह पद आधुनिक तहसीलदार के तुल्य था। इसके अधीन दो दशी तथा बीस ग्रामिक अधिकारी होते थे । मनु के अनुसार यदि दशाधिपति ग्रामिक द्वारा दी गई समस्याओं का निराकरण नहीं कर पाता था तो वह बीस ग्रामों के अधिपति को समस्यायें प्रेषित करता था।[150] इसका कार्य दशाधिपति की तरह अपने अधीनस्थों पर नजर रखना था । इसके अधीन बाइस अधिकारी होते थे । मनु के अनुसार विशंती का वेतन पांच कुल का भोग करना था। इसका वेतन दशाधिपति से चार गुना अधिक था।[151]

5. शती – बीस ग्रामों के अधिकारी के ऊपर शती नामक अधिकारी होता था जिसके अधीन सौ गांवो का समूह होता था । यह प्रशासन की चौथी इकाई थी । इसके अधीन पांच विशंती , दस दशाधिपति तथा सौ ग्रामिक होते थे । मनु के अनुसार इसे एक ग्राम वेतन के रूप में प्राप्त होता था। एक गाँव से होने वाली समस्त

---

[149] अष्टागव धर्महलं षड.गन्वं जीवितार्थिनाम् । इति हारीत स्मरणात् षडगर्व मध्यमं हलमिति तथा विधहलद्वेयन यावती भूमिर्वाह्यते , तत् कुलमिति वदन्ति इति । (मु0मु0)

[150] शंसेद ग्रामदेशेशाय दशेशो विंशतीशिने । मनु0 7.116

[151] विशी पंच कुलानि च । मनु0 7.119

आय पर इसका पूर्ण अधिकार होता था।[152] इस प्रकार इसकी स्थिति एक जागीरदार के समान थी । जिन समस्याओं को विशंती नही सुलझा पाते थे उन्हे वे शती के पास भेज देते थे ।[153]

6. सहस्त्राधिपति – सौ गाँवो के पश्चात हजार गाँवो का संगठन किया जाता था। इसके प्रमुख अधिकारी को सहस्त्राधिपति के नाम से जाना जाता था। इसके अधीन सोलह सौ अधिकारी रहते थे । मनु के अनुसार सहस्त्राधिपति राजा से वेतन के रूप में एक पुर या कस्बा प्राप्त करता था।[154] शताध्यक्ष समस्या का निराकरण न हो पाने पर सहस्त्राध्यक्ष से निवेदन करता था।

7. सर्वार्थचिन्तक – मनु के अनुसार नगर के प्रशासन के लिये भी एक अधिकारी नियुक्त किया जाता था जिसे सर्वार्थचिन्तक कहते थे। इससे शुक्र आदि ग्रहों के समान तेजस्वी तथा घोर रूप वाला होने की अपेक्षा की गई थी । इन गुणों से युक्त होकर ही वह प्रतिभासम्पन्न अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारियों पर प्रभुत्व स्थापित कर सकता था। इसका कार्य अधीनस्थों की निगरानी तथा गुप्तचरों द्वारा अपने अधीनस्थों के कार्य व्यवहार के विषय में जानकारी प्राप्त करना था। इसके भय से अधीनस्थ अपने कार्यो का सुचारू रूप से संचालन करते थे।

सर्वाथचिन्तक का अर्थ है प्रजा के समस्त अर्थो का चिन्तन करना और उनकी सिद्धि के लिये सदैव प्रयत्न करना।[155] सर्वार्थचिन्तक के द्वारा प्रजा के दुःख–सुख की जानकारी लेने के लिये गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे गुप्तचरों के माध्यम से वह दुष्टराजकर्मियों के बारे में जानकारी करता था , जो प्रजा के धन का हरण करने वाले

---

[152] ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः । मनु0 7.119

[153] विशंतीशस्तु तत्सर्व शतेशाय निवेदयेत । मनु0 7.117

[154] सहस्त्राधिपति : पुरम् । मनु0 7.117

[155] नगरे–नगरे चैंक कुर्यात सर्वार्थचिन्तकम।
उच्चैः स्थानं घोररूप नक्षत्रणामिव ग्रहम् । मनु0 7.121

और धोखेबाज होते थे।[156] मनु के अनुसार जो पाप बुद्धि अधिकारी कार्यार्थियों से रिश्वत अर्थात द्रव्यहरण करते है उन्हें राजा स्वार्थचिन्तक के विवरणानुसार सर्वस्व हरण करके राज्य से निष्कासित कर दें।[157]

8. **अन्तःपुर का कार्याधिकारी** :– इस अधिकारी की योग्यता के विषय में मनु का मत है कि जो व्यक्ति स्वभाव से भीरू हो उसका चयन करके अन्तःपुर के कार्यो ,जैसे – रनिवास ,भोजनगृह , शयनगृह आदि में नियुक्त करना चाहिये।[158]
9. **पुरोहित** :– राजा को शान्ति–यज्ञ के लिये ऋत्विक तथा पुरोहित को अपने राज्य में नियुक्त करना चाहिये।[159]
10. **राजमंत्री** :– राजा को ग्राम पतियों के कार्यो की निगरानी के लिये राजमंत्री नियुक्त करना चाहिये । ये मंत्री राजा के हितैषी तथा आलस्य रहित होने चाहिये।

स्पष्टतः प्राचीन भारत में राजकीय कार्यो के सफल संचालन के उद्देश्य से अनेक स्तरीय अधिकारियों की व्यवस्था होती थी । इन अधिकारियों की नियुक्ति मुख्यतः योग्यता एंव गुणों के आधार पर होती थी । कोई भी व्यक्ति अपेक्षित अर्हतायें रखने पर व योग्यता परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर शासकीय अधिकारी के पद को प्राप्त कर सकता था। व्यक्ति के राजनीतिक अधिकारों में यही एक अधिकार था जो सर्वसाधारण को प्राप्त था। शीर्ष राजनीतिक पदाधिकारियों को चुनने अथवा स्वयं उन पदों पर निर्वाचित होने जैसी व्यवस्था न होने के कारण व्यक्ति आज की तरह मत देने और निर्वाचित होने के अधिकार से वंचित था । किन्तु जहाँ तक सार्वजनिक पदों की प्राप्ति का सम्बन्ध था, यह व्यक्ति की पहुँच के अन्तर्गत था।

---

[156] राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिन शनः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेम्यो रक्षेदियाः प्रजाः ।। मनु0 7.123

[157] ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्ययीयुः पाप चेतसः
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम् ।। मनु0 7.124

[158] मनु0 7.62

[159] मनु0 7.78

तृतीय–अध्याय

आर्थिक अधिकार

आर्थिक अधिकार

आर्थिक अधिकार व्यक्ति के नागरिक अधिकारों का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसके अभाव में व्यक्ति न तो सुचारू रूप से अपना जीवन जी सकता है और न ही अपने व्यक्तित्व का समग्र विकास कर सकता है । धन–सम्पदा के बिना मनुष्य जनहित और परोपकार के कार्य भी नहीं कर सकता । इन अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यवसाय या किसी लाभप्रद रोजगार में लगे रहने से है जिससे उसकी भोजन , वस्त्र और आवास की समस्या हल हो सके । अतः हर व्यक्ति को अपनी वृत्ति, उपजीविका चुनने का अधिकार होना चाहिये । यही कारण है कि समय–समय पर दार्शनिकों ने विविध प्रकार से आर्थिक अधिकारों के महत्व को स्पष्ट किया है। संविदावादी विचारकों ने जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार के साथ–साथ सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकारों की श्रेणी में रखा है। इनमें लॉंक का स्थान प्रमुख है। उसके अनुसार राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों (जीवन , स्वतंत्रता और सम्पत्ति) की रक्षा करना है क्योंकि सामाजिक समझौता करने की प्रेरणा प्रकृति द्वारा प्रदान किये गये अधिकारों के उपयुक्त प्रशिक्षण से हुई । यदि शासक इन प्राकृतिक अधिकारों की पवित्रता का उल्लंघन करते हैं तो व्यक्तियों को यह अधिकार है कि वे न केवल सरकार का प्रतिरोध करें बल्कि उसे बदल डालें । इन अधिकारों को किसी अन्य प्राधिकारी को सौंपा भी नहीं जा सकता।[1] वर्जीनिया के विधान में भी प्राकृतिक अधिकारों के अन्तर्गत ही आर्थिक अधिकारों की गणना की गई है।

आर्थिक अधिकारों के महत्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि अधिकांश देशों ने अपने संविधान में आर्थिक अधिकारों को किसी न किसी रूप में स्थान दिया है। भारतीय संविधान के मूल प्रलेख में सम्पत्ति का अधिकार मौलिक अधिकारों में शामिल था । किन्तु 30 अप्रैल 1979 को हुए 44वें संविधान संशोधन द्वारा इसके मौलिक अधिकार स्वरूप को समाप्त कर दिया गया।

[1] देखे लॉक : सेकेन्ड ट्रीटीज ऑफ सिविल गवर्नमेन्ट , अध्याय 7 व 9

प्रारम्भ में भारतीय संविधान में सम्पत्ति का अधिकार दो स्थानों पर दिया गया था – अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) में और अनुच्छेद 31 में अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) में प्रत्येक नागरिक को " सम्पत्ति के अर्जन , धारण और व्ययन का मौलक अधिकार दिया गया था। इसी अनुच्छेद के खण्ड (5) के अनुसार , साधारण जनता के हितों के अथवा किसी अनुसूचित जनजाति के हितों के संरक्षण के लिये राज्य युक्ति–युक्ति निर्बन्धन लगा सकता था। अनुच्छेद 31 के खण्ड (1) में यह उपबन्धित था कि कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा । उसी अनुच्छेद के खण्ड (2) में यह उपबन्धित था कि राज्य सम्पत्ति का वैवश्यक अर्जन अथवा अधिग्रहण केवल सार्वजनिक प्रयोजन के लिये ही करेगा और जिस विधि द्वारा ऐसा अर्जन अथवा अधिग्रहण किया जाएगा वह इसके लिये प्रतिकार का उपबन्ध करेगा। आज भी स्वतंत्रता के मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत भारत के नागरिकों को कोई वृत्ति , उपजीविका , व्यापार या कारोबार करने का अधिकार प्राप्त है। (अनुच्छेद 19 (छ))

मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा में भी व्यक्ति के आर्थिक अधिकारों को स्थान दिया गया है। घोषणा के अनुच्छेद 17 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति रखने का अधिकार होगा । इसके लिये संघ आदि बनाया जा सकता है। किसी को भी उसकी सम्पत्ति से विमुख नहीं किया जा सकता है । इसी प्रकार अनुच्छेद 23 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को स्वेच्छा से कोई भी व्यवसाय करने का अधिकार है। समान कार्य के लिये समान वेतन का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को विश्राम एवं अवकाश का अधिकार , नियमित कार्यकाल , समय व दिनों के बाद सवेतन पाने का अधिकार है ।(अनुच्छेद 24) साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथा अपने परिवार का जीवन स्तर सुधारने का अधिकार है। बेकारी , बीमारी , अक्षमता , विधवावस्था , वृद्धावस्था अथवा अन्य अक्षमता के कारण सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार है । (अनुच्छेद 25)

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक अधिकारों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्नलिखित अधिकार है–

1. सम्पत्ति अर्जित करने तथा रखने का अधिकार।
2. कोई वृत्ति , उपजीविका अथवा कारोबार का अधिकार ।
3. आर्थिक संघ (ट्रेड यूनियन) बनाने का अधिकार ।
4. विश्राम व अवकाश का अधिकार ।
5. किसी भी प्रकार की अक्षमता की अवस्था में आर्थिक सुरक्षा (सहायता) प्राप्त करने का अधिकार ।

वेदों में आर्थिक अधिकार –

वेद भारत के प्राचीनतम् ग्रन्थ माने जाते हैं । भारतीय सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था का बीजारोपण वैदिक समाज से ही प्रारम्भ होता है। अस्तु वेदों में यत्र–तत्र व्यक्ति के आर्थिक अधिकारों से सम्बद्ध उल्लेख मिलते हैं । वेदों में प्रत्येक व्यक्ति को धन अर्जन करने और उसके संग्रह का अधिकार दिया गया है। धन–संग्रह और धन की सुरक्षा के लिये योगक्षेम शब्द आया है। यजुर्वेद में कहा गया है कि हम धन के स्वामी हों और हमें योगक्षेम प्राप्त हो ।[2] धनोपार्जन के इस अधिकार के साथ ही उचित साधनों से धन संग्रह करने की शर्त भी आरोपित की गई है।[3] ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि हमें अपने प्रिय योग्य पदार्थों से जो श्रम से उपार्जित है , वंचित न किया जाय।[4] साथ ही यह कामना भी की गई है कि हमारे जो पात्रादि हैं वे हमसे कोई न छीने।[5] पात्रादि का सम्बन्ध सीधे–सीधे व्यक्ति की सम्पत्ति प्राप्तियों अथवा उपलब्धियों से है। इन्हे कोई अपहृत न करे इसकी कामना एक अधिकार की मांग के रूप में है , जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है।

इसके अतिरिक्त वेदों में अनेक स्थानों पर धन प्राप्ति व उसके सुरक्षा के सम्बन्ध में कामना की गई है । यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि प्रभु हमें धन से पूर्ण

---

[2] क – वयं स्याम पतयो रयीणाम् । यजु0 10.20
ख – योग क्षेमो नः कल्पताम् । यजु0 22.22

[3] उग्ने नय सुपथा राये । यजु0 40.16

[4] मा नः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः । ऋग0 1/7/19/3

[5] मा नः पात्रा । ऋग0 1/7/19/3

करें।[6] यजुर्वेद में ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि हमारे दोनो हाथ धन से अच्छी प्रकार भरे हों।[7] हम सभी प्रकार के ऐश्वर्यो से परिपूर्ण हों ।[8] ऐश्वर्यदाता हमें ऐश्वर्य दे।[9] हम रयि के स्वामी हों ।[10] इतना ही नहीं वेदों में प्रातः जागरण के पश्चात जो मंत्र जपने का निर्देश है वह ऐश्वर्य धन की कामना से प्रेरित है।[11]

उपर्युक्त विवरण में रयि और वसु शब्द आये हैं। धन शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वास्तव में जब वस्तुओं के विनिमय के लिये सिक्कों (मुद्रा) का निर्माण हुआ तो इसे ही धन कहने लगे। चूंकि वस्तु का श्रम से निर्माण होता है अतः धन श्रम का पंजीकृत रूप है। जब कोई धन देता है तो बदले में कोई दूसरी वस्तु चाहता है । इसे ही क्रय विक्रय कहते हैं । मानव अपनी समस्त कामनायें केवल अपने श्रम से ही पूरा नहीं कर सकता । उसे दूसरी वस्तुओं की जो उसने अपने श्रम से निर्मित नहीं की हैं , भी आवश्यकता होती है । अतः वह अपने श्रम से निर्मित वस्तु का दूसरों के श्रम से उपार्जित वस्तुओं से विनियम करता है। वैदिक काल में इसी लेन–देन से समाज चलता था अर्थात हम मूल्य से वस्तु लें और वस्तु दें।[12]

ऋग्वेद में समुद्री व्यापार का अनेक मंत्रो में उल्लेख है । इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति के आर्थिक कियाकलाप स्वदेश तक ही सीमित नहीं थे अपितु समुद्र पार के अन्य देशों से भी धन एकत्र करने का अधिकार उसे प्राप्त था।[13] ऋग्वेद में धन के एकाकी उपभोग को प्रतिबंधित किया गया है। कहा गया है कि हम अपने धन का अकेले उपयोग न करें , अपितु बाँट कर खावें। अकेला खाने वाला पापी होता है । धनवान का

---

[6] स नो वसुन्याभर । यजु0 15/30
[7] उभाहि हस्ता वसुना पृणस्वा । यजु0 5/19
[8] वयं भगवन्तः स्याम । यजु0 34/38
[9] वसोर्दाता वस्वदात् । यजु0 4/16
[10] वयं स्याम पतयो रयीणाम् । यजु0 10/20
[11] प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पति प्रातः सोममत रूद्र हुवेम ।
प्रातर्जित भगमुग्रं छुवेम । यजु0 34/34–35
[12] देहि में ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि में निहारंनि हराणि ते ।। यजु0 3.50
[13] क– समुद्रस्य चिद् धनयन्त पारे । ऋग0 1.167.2
ख– समुद्रे न श्रवस्पवः । ऋग0 1.48.3

कर्तव्य है कि वह निर्धनों को सहायता दे।[14] इतना ही नहीं वैदिक काल में भृष्ट आचरण व गलत तरीकों से सम्पत्ति अर्जित करने का स्पष्ट निषेध है। अथर्ववेद के एक मंत्र में भ्रष्टाचार के विरुद्ध चेतावनी देते हुए स्पष्ट कहा गया है कि अनुचित साधनों या भ्रष्टाचार से प्राप्त लक्ष्मी मनुष्य को उसी प्रकार नष्ट कर देती है , जैसे आकाशबेल वृक्ष को। अतएव उचित साधनों से प्राप्त शुभ लक्ष्मी को अपनावें और भ्रष्ट साधनों से प्राप्त अशुभ लक्ष्मी को त्याग दें।[15]

वैदिक साहित्य भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को निरूपक है और इस रूप में उसमें जीवन और समाज के क्षेत्र में विचारों का बीजारोपण करने का प्रयास किया गया है। अधिकारों के सम्बन्ध में भी उनमें विचार बीज रूप में विद्यमान हैं।

स्मृतियों में आर्थिक अधिकार :–

स्मृतियों में अर्थ , धन , सम्पत्ति एवं इस सम्बन्ध में व्यक्ति की स्थिति व अधिकारों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

1. अर्थ :– बृहस्पति , नारदीय मनु तथा बुध स्मृति ने 'अर्थ ' पर विस्तृत प्रकाश डाला है। बृहस्पति और नारदीय मनुस्मृति ने कर्मो की श्रेष्ठता और निकृष्टता के आधार पर अर्थ को तीन भागों में विभक्त किया है–

क – शुक्ल (श्वेत) अर्थ

ख – शबल (भूरा) अर्थ व

ग – कृष्ण (काला) अर्थ ।[16]

---

[14] क– केवलाघो भवति केवलादी । ऋग0 10.117.6
ख– पृणीयादिन् नाधमानाय तव्यान् । ऋग0 10.117.5

[15] क– या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाऽभि चस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धाः । अथर्व0 7.115.2
ख – रमन्तां पुण्या लक्ष्मीः , या : पापीरत्ता अनीनंशम् । अथर्व 7.115.5

[16] वृह0 7.2 , ना0 मनु0 01.40

क – शुक्ल अर्थ :– जो अर्थ विद्या , पुरूषार्थ , तपस्या ,शिष्य ,यज्ञ ,वंशपरम्परा , और कन्या से प्राप्त होता है , उन शप्त प्रकारों वाले अर्थ को शुक्ल (श्वेत) अर्थ कहा जाता है। उत्तम कार्यो में इस अर्थ का प्रयोग करने से वृद्धि होती है।[17]

ख – शबल अर्थ :– शबल अर्थ उसे कहते हैं जो ब्याज , कृषि , वाणिज्य , शुल्क , शिल्प और अकृत व्यक्ति आदि से प्राप्त होता है ।[18]

ग – कृष्ण अर्थ :– द्यूत , दूतकार्य , रोगी , दुःसाहसी या अन्यायी तथा ब्याज से प्राप्त धन कृष्ण अर्थ कहलाता है।[19]

इस प्रकार स्मृतियों में उत्तम , मध्यम तथा निकृष्ट तीनों प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख आया है। साधन में भिन्नता से अर्थ के स्वरूप में भिन्नता आ जाती है । उत्तम उपायों से प्राप्त अर्थ उत्तम होता है , अतः उसे श्वेत अर्थ कहा गया । यह स्थायी होता है। मध्यम उपायों से प्राप्त अर्थ मध्यम कोटि का होता है । इसका फल भी मध्यम होता है। इसीलिये यह शबल अर्थ कहा जाता है। यह अल्पस्थायी है। निम्न क्रियाओं व उपायों से अर्जित अर्थ संग्रह अधम कोटि का होता है। अतः इसे कृष्ण कहा गया । यह अस्थाई होता है। ये तीनो अर्थ जिस प्रकार के कार्यो में प्रयुक्त होते हैं , उसी प्रकार का फल देते हैं । बृहस्पति नारद और बुध ने उचित मार्ग से ही एकत्रित किये गये अर्थ को महत्व दिया है। बृहस्पति ने अर्थ के भेद में स्थावर अर्थ का नाम प्रयुक्त किया है। स्थावर अर्थ से अभिप्राय अचल सम्पत्ति से है। इसकी प्राप्ति सात स्रोतों से होती है। अतः इसे सात प्रकार का कहा गया है । ये सात स्रोत हैं –

1. विद्या 2. क्रय 3. बन्धक वस्तुएँ 4. शौर्य
5. अपना भाग या अंश 6. वंश परम्परागत 7. सन्तानहीन सम्बन्धियों से प्राप्त।[20]

---

[17] बृह0 7.3 , ना0 मनु0 1.41
[18] बृह0 7.4 , ना0 मनु0 1.42
[19] बृह0 7.5 , ना0 मनु0 1.43
[20] विद्यया कयबन्धेन शौर्य भागान्वयागतम्
सपिण्ड स्याप्रजस्यांश स्थावरं सप्तधाऽप्यते । बृह0 7.23

2. अर्थ की उपयोगिता :– बृहस्पति तथा नारदीय मनु का कथन है कि समस्त अर्थो या धनों का निजी एवं अन्य कार्यो में उपयोग होता है। इन अर्थो का कय विकय , दान और ग्रहण (दान लेना) इन चार कार्यो में प्रयोग किया जाता है ।[21] श्वेत ,शबल और कृष्ण इन तीन प्रकार के धनों में से जिस धन का जिस प्रकार से उपयोग किया जाता है , उसी प्रकार का लाभ उनसे प्राप्त होता है।[22]

बृहस्पति ने भोग के योग्य सम्पत्ति के सात भेद माने हैं – पैतृक , लब्ध (राजादि से प्राप्त) कय (खरीदी हुई), आधान (निक्षेप जमा की हुई) , रिक्थ (दान में प्राप्त अंश) , शौर्य और प्रवेदन (भिक्षादि से प्राप्त)[23] बृहस्पति का कहना हैं कि ये सात प्रकार के अर्थ धनागम जारी रहने पर ही सफल होते हैं । यदि केवल धन का उपयोग ही होता रहे और आगम के स्रोत बन्द हो तो श्री बृद्धि असम्भव है , अतः आगम (आय) की भी व्यवस्था होनी चाहिये , जिससे अर्थ का सदुपयोग होता रहे।[24]

प्रत्येक व्यवहार के कार्यो में अर्थ का प्रयोग होता है इसलिये अर्थ का आगम धर्मयुक्त होना चाहिये। मनु ने सात प्रकार से होने वाली आय को धर्मयुक्त माना है।[25]

1. दाय – धर्मयुक्त पितृ सम्पत्ति का भाग
2. लाभ – मूलधन या मित्रादि से प्राप्त
3. क्रय – खरीदा हुआ
4. जय – युद्ध से प्राप्त
5. प्रयोग – व्याजादि से प्राप्त
6. कर्मयोग – खेती व्यापार आदि उपायों से प्राप्त और
7. सत्प्रतिगृह – शास्त्रोक्त दान से प्राप्त

---

[21] बृह0 7.6 ना0मनु0 1.44

[22] वृह0 7.7 , ना0मनु0 1.45

[23] पित्रये लब्ध कयाधाने रिक्थ शौर्य प्रवेदनात् ।
प्राप्ते सप्तविधे भोगः सागमः सिद्धि माप्नुयात् ।। ब्रह0 7.24

[24] बृह0 7.30

[25] सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः ब्रयो जयः
प्रयोगः कर्मयोगश्च सप्प्रतिग्रह एवच । मनु0 10.115

बृहस्पति का कथन है कि शुद्ध उपायों से ही धनोंपार्जन करना चाहिये। यदि मनुप्य अनुचित उपायों से धन संग्रह करता है तो उस पर घोर विपत्तियाँ आती हैं।[26] बुध स्मृति का मत है कि सच्चाई और न्याय से प्राप्त हुए धन से ही अपने निर्धारित कर्मो को करें।[27] शंखास्मृति का कथन है कि मनुष्य अपनी वृत्ति अर्थात जन्मसिद्धि व्यवसाय को न छोड़े।[28]

3. विविध वृत्तियाँ :– धर्मशास्त्रों में अर्थोपार्जन के साधनों एवं वृत्तियों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन नही हुआ है । वर्णो के कर्तव्य वर्णसंकर जातियों के कर्तव्य एवं प्रायश्चित आदि के प्रकरणों में विभिन्न वृत्तियों का विवेचन किया गया है। मनु ने वृत्ति के लिये 'जीवन हेतवः' शब्द प्रयुक्त किया है अर्थात जिन कार्यो को करने से व्यक्ति की आजीविका चलती है वे जीवन हेतु है। इन्हे जीवन निर्वाह के साधन भी कह सकते हैं ।[29] मनु नारदीय मनु स्मृति , बुद्ध स्मृति एवं बृहस्पति आदि स्मृतियों में भी वृत्ति शब्द का सविस्तार प्रयोग हुआ है।[30] बृहस्पति और नारदीय मनु का कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि धन से ही जीवन की सारी क्रियायें चलती हैं , अतः धन के लिये सभी प्रकार के साधन , एकत्रित करने चाहिये। ये साधन तीन प्रकार के हैं[31] –

1. धन की प्राप्ति और उसको बढ़ाना।
2. प्राप्त धन की रक्षा।
3. प्राप्त धन का उपयोग।

मनु ने जीवन निर्वाह के लिये दस वृत्तियों का वर्णन किया है।[32] 1. विद्या (वेदादि का अध्ययन व वैद्यक आदि) , 2. शिल्प 3. भृति (वेतन लेकर कार्य करना), 4.

---

26 बृह0 7.13
27 न्यायगत धनेन कर्माणि । बुध.
28 शंख 5.17 .
29 मनु0 10.116
30 शूद्रस्तु वृत्ति माकाङ0क्षन् क्षत्रभाराधयेद्यदि ।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत।। मनु0 10.121
ना0 मनु0 265 , 5–4 , बृह0 7 , 14 , 17
31 धनमूलः क्रियाः सर्वा यत्नप्रस्तत्साधनो मतः ।
वर्धनं रक्षणं भोग इति तस्य विधिकृमः ।। बृह0 7.1
32 विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपाणिः कृषिः

सेवा (दासत्व) 5. गौरक्षण 6. व्यापार 7. कृषि 8. धैर्य (अल्प धन से जीवन निर्वाह) 9. भिक्षा व 10. सूद।

मनु , नारदीय , मनु , बृहस्पति , बुध एवं शंख आदि स्मृतियों में विविध प्रसंगो में विविध प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख आया है। मनु ने अध्याय आठ से दस में जिन वृत्तियों का उल्लेख किया है , वे हैं – अध्यापन , याजन (यज्ञ कराना) , प्रतिग्रह (दान लेना) , राष्ट्ररक्षा , व्यापार और वाणिज्य (वार्ताकर्म) , कृषि , गोरक्षा , पशुरक्षा , कुसीद (सूद पर रूपया देना) तथा सेवा कार्य।[33]

नारदीय मनुस्मृति में उल्लिखित प्रमुख वृत्तियां हैं[34] – कुसीद वृत्ति अर्थात ब्याज पर रूपया देना , महापथिक (राजमार्ग के व्यापारी) , सामुद्रवणिक (समुद्री व्यापारी) , कुशीलव (अभिनेता) , शैलूष (नट) , विषजीवी (विष एवं मद्य विक्रेता) , अहितुंडिक (सपेरा) , कीनाश (कृषक) , साहसिक (दुराचारी) , मल्ल (कुश्ती लड़ने वाला) , तैलिक (तेली) , शौण्डिक (मद्य विक्रेता) , वर्ष नक्षत्र सूचक (ज्योतिषी) , ऐन्द्रजालिक (जादूगर) , लुब्धक (वधिक) , चित्रकृत (चित्रकार) , मंख (स्तुति गायक , भाट) , कूटकारक (दलप्रपच के कार्य करने वाले) , कुहक (जादूगर) , तस्कर (चोर) , वार्द्धुषक (ब्याज पर धन देने वाला) , मानव विकेता , विष विकेता , शस्त्र विकेता , लवण विकेता (पंसारी) , अपूप विकेता (हलवाई) , कुलिक (कलाकार) , स्तावक (भाट) , दास नैकृतिक (जालसाज)

इसी प्रकार बृहस्पति स्मृति में भी अनेक प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख हैं[35] – प्राड्विवाक (वकील) , अमात्य (मंत्री) , सभ्य (सांसद) , पुरोहित , अरण्यचर (वन्य वृक्षादि से जीविका चलाने वाले), सैनिक , वणिक् , कीनाश , कारूक (शिल्पी) , मल्ल (कुश्ती लड़ने वाले) , कुसींद (ब्याज पर रूपया देने वाले), श्रेणी (व्यापारी संघ), लिगिंन (बहुरूपिया) , तस्कर , कुल (व्यापारी संघ), श्रेणी (शिल्पी संघ), मायावी (जालसाज) ,

---

धृतिभैक्ष्य कुसीदं च दश जीवन हेतवः ।। मनु0 10.116

[33] मनु0 10.75–84 , 10.115–116 , 8, 410–415

[34] ना0मनु0 1.86–92 , 1.157–170 , 5.2–7

[35] बृह0 1.68–80 , 1.90 , 1.107–109

योगवित् (यौगिक प्रदर्शन करने वाले) , गणक (मुनीम) , लेखक (क्लर्क) , उत्कोचजीवी (रिश्वतखोर) , वंचक (ठग) , कृषि , पाशक (बहेलिया) , द्यूत , दूत , साहस (दुराचारी)।

बुध स्मृति में इन वृत्तियों का उल्लेख है – अध्यापन , याजन , प्रतिगृह , क्रय–विक्रय , संविभाग (साझेदारी) , कृषि , पशुपालन , वाणिज्य , तथा सेवा कर्म ।[36] बृद्धहारीत में लवण , तिल , कपास , चर्म , रांगा और सीसा , लौह ,मद्य , मांस , विष , अन्न , घृत , सरसों आदि फल साग , भूमि , वस्त्र , धान्य , सुवर्ण , तथा रत्नों के विक्रेता आदि वृत्तियों का उल्लेख आया है।[37]

4. विविध शिल्प :– विविध प्रकार के शिल्प कार्यो (कारीगरी) से व्यक्ति अपनी आजीविका उपार्जित करता है । प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में इस दृष्टि से अनेक शिल्पों का उल्लेख किया गया है। बृहस्पति ने शिल्प को विज्ञान बताया है। शिल्प के अन्तर्गत सभी प्रकार की कला–कृतियों , ललित कलाएं, नृत्य , गीत , वाद्य आदि का समावेश होता है।[38] शिल्पी की शिक्षा के लिये शिल्पी को गुरू के पास रहना पड़ता था । अतः उसे अन्तेवासी कहा जाता था । इसके लिये कुछ निश्चित अवधि तक गुरू के पास रहना आवश्यक था। निश्चित अवधि से पूर्व गुरू गृह से भाग जाने पर अन्तेवासी दण्ड का भागी होता था।[39]

बृहस्पति ने अधोलिखित शिल्पों का उल्लेख किया है – सुवर्णकार , कुप्यकार , सूत्रकार , (जुलाहा) , काष्ठशिल्पी , चर्मकार , नर्तक , गायक , तालज्ञ (तबला वादक) , हर्म्यकार (मकान बनाने वाले मिस्त्री) , देव गृहकार (मन्दिर आदि बनाने वाले) , धार्मिक वस्तुएं बनाने वाले ।[40] विष्णु स्मृति में रंगावतरण अर्थात रंग मंच पर अभिनय का भी

---

[36] बुध स्मृति ।
[37] बृद्ध हारीत 4.152 – 158
[38] विज्ञान मुच्यते शिल्पे हेमरूव्यादि संस्कृति ।। बृ0 15.7
[39] कृत शिल्पोऽपि निवेसत कृत कालं गुरोर्गृहे ।
अन्तेवासी गुरूप्राप्त भोजनस्तत्फलप्रदः ।। याज्ञ0 2.184
[40] बृह0 13.33–37

उल्लेख किया गया है ।[41] वृद्धहारीत ने ललित कला के लिये सौम्य शिल्प नाम दिया है। उसके अनुसार सौम्य शिल्प चार प्रकार के हैं[42] –

1. मिट्टी के कार्य (मिट्टी के खिलौने आदि बनाना)
2. दारूकर्म (लकड़ी के खिलौने आदि बनाना)
3. शैलकर्म (पत्थर की मूर्तियाँ आदि बनाना)
4. लौह कर्म (लोहे के बर्तन और मूर्तियाँ बनाना)

वृद्ध हारीत में एक अन्य स्थान पर निम्न कार्यो को भी सौम्य शिल्प में रखा गया है[43] –

1. सारथ्य (सारथी का कार्य)
2. गाणिक्य (वैश्याओं द्वारा नृत्य संगीत आदि का कार्य)
3. वैणव (मुरलीवादन)

बृहत्पराशर ने शिल्पियों के दो भाग किये हैं – शिल्पी और कारूक। शिल्पी में सुनार , मूर्तिकार, नर्तक व गायक आदि आते हैं जबकि कारूक में बढ़ई , कुम्हार , मिस्त्री आदि आते हैं।[44] विष्णु स्मृति ने कुछ निन्दित वृत्तियों का भी वर्णन किया है । इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है – विकर्मस्थ (बुरे कार्यो में लगे हुए) , वैडालवृतिक (धूर्त) , वृथालिंगी (पाखण्डी) , सूचक (चुगलखोर) , भृतकाध्यापक (वेतन भोगी अध्यापक)[45]

बृहस्पति ने शिल्पियों के गुरूओं की निम्न चार श्रेणियां बताई हैं –

1. शिक्षक अर्थात विषय पढाने वाले
2. अभिज्ञ – विषय को ठीक से जानने वाले उच्च कोटि के शिक्षक
3. कुशल – विषय के विशेषज्ञ

---

[41] रंगावरतण मायोगवानाम् । विष्णु 16.8
[42] बृद्ध0हा0 4.176–180
[43] बृद्ध हा0 4.177–178
[44] बृ0 परा0 8.47
[45] विष्णु अध्याय 82

4. आचार्य – विषय का पारंगत विद्वान एवं सर्वोच्च अधिकारी । **बृहस्पति ने शिल्प** विद्याओं के शिक्षकों को भी शिल्पी कहा है।[46]

स्त्रियों के वृत्ति और शिल्प के विषय में पराशर स्मृति में वर्णन प्राप्त होता है । इसमें चार प्रकार की स्त्री शिल्पों का उल्लेख आया है – रजकी (धोबिन) , चर्मकारी (चर्म कर्म करने वाली), लुब्धकी (पक्षियों आदि को मारने वाली), व वेणुजीविनी (बांस की टोकरी आदि बनाने वाली)[47] बृहत्पराशर और बृहस्पति ने दासी (सेविका) का भी उल्लेख किया है। बृहस्पति का कथन है कि दासी और दास की प्रथा वंश परम्परा से चलती है।[48] वृद्ध हारीत ने निकृष्ट कोटि की स्त्रियों में कुलटा (दुश्चरित्र स्त्री) की गणना की है।[49]

5. वर्णों की वृत्तियाँ :– चारो वर्णो की उत्पत्ति का आधार वर्णन ऋग्वेद का पुरूष सूक्त है। चारो वर्णों की उत्पत्ति विविध गुणों के आधार पर तथा विशिष्ट कर्मो के सम्पादन के प्रयोजनार्थ हुई । अतः इनकी वृत्तियों का भी अलग–अलग विधान किया गया है।

(क) ब्राह्मणः– मनुस्मृति , याज्ञवल्क्य स्मृति ,पराशर स्मृति , तथा पराशर माधवीय का कहना है कि ब्राह्मण के लिये यज्ञ करना और कराना , पढना और पढाना , दान देना और दान लेना , ये सब स्वाभाविक वृत्तियां है।[50] वेद का अध्ययन तथा वेदाध्यापन ब्राह्मण के दैनिक कर्म थे । पराशर तथा मनुस्मृति ने ब्राह्मण को षट्कर्मा कहा है । वेदाध्ययन यज्ञ कराना और सत्पात्रों से दान लेना ब्राह्मण की वृत्तियाँ है जिनसे उनकी जीविका चलती है। वृत्ति सम्बन्धी यह विधान स्मृतियों ने केवल ब्राह्मणों के लिये ही बनाया है। मनु तथा पराशर माधवीय का मत है कि यदि कोई ब्राह्मण षटकर्मो का

---

[46] शिक्षका भिज्ञकुशला आचार्याश्चेति शिल्पिनः । बृह0 13.35
[47] रजकी चर्मकारी चतुब्धकी वेणुजीविनी । परा0 6.44
[48] बृ0 परा0 8.47 । बृह0 15.22–25
[49] वृद्ध हा0 4.152
[50] अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ।। मनु0 010.75
याज्ञ0 1.118 , प0 1.38 , परा0 मा0, पृ0 145

त्याग करके अन्य वृत्तियों का आश्रय लेकर धनोपार्जन करता है तो वह आर्थिक स्थित सुदृढ होने पर भी परिवार सहित शूद्र हो जाता है।[51] याज्ञवल्क्य तथा मनु के मत से यदि ब्राह्मण अपनी जीविका न चला सके तो फसल कटने के पश्चात खेत में जो बालियां गिरी पडी हो , उन्हे चुन कर खाए । दान लेने से यह कष्टकर कार्य अच्छा है। मनु ने इस वृत्ति को ऋण नाम से अभिहित किया है।[52] मनु , याज्ञवल्क्य तथा व्यास के अनुसार ब्राह्मण को सादा जीवन यापन करना चाहिये। उन्हे धन का संग्रह नहीं करना चाहिये।[53]

गौतम का कथन है कि यदि ब्राह्मण शिक्षा, पौरोहित्य और प्रतिग्रह या दान से अपनी जीविका न चला सकें तो वे क्षत्रियों की वृत्ति युद्ध तथा रक्षण का कार्य कर सकते हैं । किन्तु वे यदि उक्त दोनो कार्य न कर सकें तो वैश्य की वृत्ति को अपना सकते हैं।[54] याज्ञवल्क्य का मानना है कि आपद्काल में ब्राह्मण क्षत्रिय की वृत्ति या वैश्यवृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करें तथा आपातकाल समाप्त होने पर प्रायश्चित द्वारा अपने को पवित्र करके अपने वर्ण की वृत्ति को अपनावे ।[55] मनु, बौधायन , वसिष्ठ , विष्णु तथा शंखलिखित का भी यही मत है।[56] मनु , नारद तथा गौतम के अनुसार आपत्काल में ब्राह्मण अपने कर्मो के अतिरिक्त शूद्र–वृत्ति कर सकता है। किन्तु वह शूद्रों के साथ भोजन नहीं कर सकता , न चौका बरतन कर सकता है और न ही वर्जित भोजन सामग्री यथा लहसुन , प्याज , मांस ग्रहण कर सकता है।[57]

मनु ने ब्राह्मण को कृषि कार्य करने को मना किया है क्योंकि हल भूमि तथा भूमि में स्थित जीवों को मार डालता है।[58] मनु ने ब्राह्मण को पत्थर , नमक , पशु , मनुष्य , सन , अलसी , ऊनीवस्त्र , फल , मूल , औषधि , सभी प्रकार के रस , पक्वान्न , तिल

---

[51] मनु0 10.75–76 , परा0मा0 पृ0 149
[52] मनु0 4.5 , 10.112 , याज्ञ0 1.128
[53] मनु0 4.12 ,1,17 याज्ञ0 1.129 , महा0 अनुशा0 61.19
[54] गौतम 6.6–7
[55] क्षात्रेण कर्मणा जीवेद् विशां वाप्यापदि द्विजः।
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत् पथि।। याज्ञ0 3.35
[56] मनु0 10.81–82 , बौधा0 2.2.77–8 , वसि0 2.22 , विष्णु 54.28
[57] मनु0 4.4 ,10.84
[58] मनु0 10.86–89

, जल , शस्त्र , विष , मांस , सोम नामक लता , कस्तूरी , दूध , मधु , दही , घी , तेल , मोम , गुड , कुशा , पशु–पक्षी , रांगा , सीसा , केश , चमड़ा, हड्डी , चर्बी आदि बेचन से निषेध किया है। मनु के अनुसार ब्राह्मण तिलों को अन्य पदार्थों के साथ मिलाकर बेच सकता है क्योंकि इसका उपयोग यज्ञ के लिये होता है।[59] बौधायन धर्मसूत्र का मत है ब्राह्मण को प्रातःकाल भोजन से पूर्व कृषि कार्य करना चाहिये । उसे ऐसे बैलों जिनकी नाक न छिदी हो , जिनके अण्डकोष न निकाले गये हों , जोतना चाहिये , उन्हे बार–बार उकसाना और इसके लिये प्रयास नही करना चाहिये , पराशर , आपस्तम्ब तथा अत्रि का भी यही मत है।[60] वृद्धहारीत ने कृषि कर्म को सबके लिये उचित माना है।[61]

ब्राह्मण द्वारा शस्त्र , गृहण :– बौधायन धर्मसूत्र का मत है कि गौओं एवं ब्राह्मणों की रक्षा के लिये एवं वर्णसंकरता के निदान हेतु ब्राह्मण और वैश्य को शस्त्र ग्रहण करना चाहिये । मनु के अनुसार वर्णाश्रम धर्म पर जब आततायियों का आक्रमण हो , युद्ध काल में अव्यवस्था हो तब तथा आपातकाल में गायों , स्त्रियों , ब्राह्मणों की रक्षा हेतु ब्राह्मण को अस्त्र–शस्त्र ग्रहण करना चाहिये।[62] महाभारत में द्रोणाचार्य , अश्वत्थामा , कृपाचार्य आदि योद्धा ब्राह्मण ही थे ।

गौतम के विचार से ब्राह्मण को अपने तथा अपने कुटुम्ब के पोषण के लिये कृषि , क्रय–विक्रय , ऋण का लेन–देन , स्वयं न करके दूसरों द्वारा करवाना चाहिये।[63] वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय अधिक व्याज पर धन का लेन–देन न करें क्योंकि व्याज पर धन देना ब्रह्म हत्या के समान है।[64] मनु ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों को कुसीद (ब्याज पर धन देने वाला) वृत्ति से दूर रहने को कहा है , किन्तु जो लोग

---

[59] विक्रीणीत तिलाञ्छूद्रान धर्मार्थमचिरस्थितम् । मनु0 10.90

[60] अष्टांगव धर्म्य हलम् । अत्रि 0222–223 , आप0 1.22–23 परा0 2.12–13

[61] वृ0हा0 7.179 , 182

[62] शस्त्र द्विजाति भिग्रह्ययां धर्मो यत्रोपरूध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवै कालकारिते ।। मनु0 8.348
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सुड0रें ।
स्त्री विप्राश्युपयतों च ध्नन्धर्मेण न दुष्यति ।। मनु0 08.349

[63] गौ0 10.5–6

[64] वसि0 धर्म 02.40

निन्दित कार्य करते हैं , उनसे थोड़ा ब्याज लेने की छूट दी गई है।[65] नारद ने कुसीद वृत्ति को ब्राह्मण के लिये सर्वथा त्याज्य माना है।[66] आपस्तम्ब ने कुसीद वृत्ति वाले ब्राह्मण के लिये प्रायश्चित का प्रावधान किया है।[67]

(ख) क्षत्रिय — मनु का कहना है कि क्षत्रियों को वेद का अध्ययन , यज्ञ करना तथा दान देना चाहिये। क्षत्रियों को अपनी जीवन वृत्ति के लिये तलवार , भाला तथा बाण आदि अस्त्र–शस्त्र ग्रहण करना चाहिये।[68] क्षत्रिय की प्रधान वृत्ति , देश की दुश्मनों से रक्षा करना तथा अन्य तीनों वर्णों की रक्षा करना है।[69] मनु का कथन है कि जब क्षत्रिय विपत्ति में हो तो उसे वैश्य वृत्ति अपना लेना चाहिये । किन्तु ब्राह्मण की वृत्ति अर्थात अध्यापन , यज्ञ कराना , दान ग्रहण करना आदि उसे नहीं अपनाना चाहिये ।[70] मनु का मानना है कि यदि कोई निम्न श्रेणी का व्यक्ति अपनी वृत्ति का त्याग करके उच्च वर्ण की वृत्ति का आश्रय लेता है तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन कर राज्य से निष्कासित कर देना चाहिये।[71] क्षत्रिय को आपत्ति में होने पर भी धन पर ब्याज लेने से निषिद्ध किया गया है। आपत्ति से ग्रस्त होने पर भी क्षत्रिय सन , अलसी , ऊनी वस्त्र ,फल–फूल तथा दवा न बेंचे । दही ,घी , तेल , दूध , मधु , कस्तूरी , जल , शस्त्र , विष , मांस , सोमलता , विभिन्न पशु जैसे हाथी ,शेर , बाघ , चीता , मछली , मगर , कछुआ , तथा लोहा , सीसा , रांगा , चमड़ा तथा मांस द्वारा निर्मित वस्तुयें भी न बेंचे ।[72]

(ग) वैश्य :— मनु के मतानुसार वैश्य की प्रमुख वृत्ति व्यापार , पशुपालन , तथा खेती करना है। इसके अतिरिक्त दान देना तथा सस गवेद का अध्ययन करना और यज्ञ

---

65 मनु0 10.117

66 ना0 ऋणा0 ।।।

67 आप0 1.9.27.10

68 मनु0 10.77 , 79

69 मनु0 10.80

70 मनु010.95

71 यो0 लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्ट कर्मभिः
तं राजा निर्धनं कृत्वां क्षिप्रमेव प्रवासयेत । मनु0 10.96

72 मनु0 10.86–89

करना भी इनकी वृत्तियों के अन्तर्गत आता है।[73] यदि वैश्य विपित्त में हो और आर्थिक अवस्था अच्छी न रह जाय तो उस स्थिति में वैश्य को शूद्र वृत्ति का आश्रय लेना चाहिये। ब्राह्मण की सेवा से जीविकोपार्जन करें किन्तु उच्छिष्ट भोजन उसे नहीं करना चाहिये । आपत्ति का समय बीत जाने पर उसे प्रायश्चित करके स्वधर्म की वृत्ति का निर्वाह करना चाहिये।[74]

(घ) शूद्र :— गौतम , वसिष्ठ , मनु और याज्ञवलक्य स्मृतियों के मतानुसार शूद्र की प्रमुख वृत्ति ब्राह्मणों की सेवा करना और सेवा से प्रसन्न होने पर उनसे भरण—पोषण सम्बन्धी सामग्री प्राप्त करना था।[75] ब्राह्मणों की सेवा करना तत्पश्चात क्षत्रियों की सेवा करना उनकी वृत्ति थी । गौतम तथा मनु के मत से शूद्र अपने मालिक द्वारा त्याज्य पुराने वस्त्रों , छाता , चप्पल , चटाइयाँ आदि प्रयोग करता था। स्वामी द्वारा त्यज्य उच्छिष्ट भोजन से वह अपना पेट भरता था। वृद्धावस्था में उसका जीवन निर्वाह उसका स्वामी करता था।[76] शंखस्मृति तथा मनु के विचार से यदि श्रेष्ठ वर्णो की सेवा से उसके परिवार का जीवन निर्वाह नहीं हो पाता है तो वह चित्रकारी , बढई गिरी , पच्चीकारी , रंगसाजी , आदि वृत्तियों का आश्रय लेता था।[77] शूद्र को आपत्ति काल में सूप बनाने का काम करना चाहिये।[78] उसे आपातकाल में वैश्य की सेवा करनी चाहिये, किन्तु सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण सेवा ही है । ब्राह्मण सेवा से वह परम भाग्यशाली हो जाता है।[79] नारद के विचार से आपदकाल में शूद्र क्षत्रिय तथा वैश्यवृत्ति का आश्रय ले सकता था। याज्ञवल्क्य ने भी इस मत का समर्थन किया है।[80] हारीत स्मृति के अनुसार शूद्र कृषि वृत्ति कर

---

[73] शास्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक् पशुकृषि विशः।
आजीवनार्थ धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ।। मनु0 010.79

[74] मनु0 10.98

[75] गौ0 10.57—59 , वसि0 2.20 , मनु0 10.121—123 , बौधा0 1.10.5

[76] गौ0 10.60—61 , 63, मनु0 10.124—125

[77] शूद्रस्य द्विजशुश्रुषा सर्वशिल्पानि चाप्यथ । शंख 01.5
तानि कारूककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ।। मनु0 10.100

[78] मनु0 10.99

[79] मनु0 10.121—123

[80] याज्ञ0 01.20 , ना0—ऋणादान 58

सकते थे ।[81] बृहत्पराशर स्मृति के अनुसार वह मदिरा तथा मांस की बिक्री न करें । गौतम तथा मनु ने धन संचय की वृत्ति को निषिद्ध बताया है।

इस प्रकार स्मृतियों में प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण और गुणों के अनुसार वृत्तियों के चयन एवं जीविकोपार्जन का अधिकार दिया गया है। यद्यपि विविध प्रकार की वृत्तियों में कुछ निषिद्ध वृत्तियों का भी उल्लेख आया है , किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नही है कि व्यक्ति को उन्हे चुनने की स्वतंत्रता थी। उनका उल्लेख मात्र इस आशय से आया है कि समाज में कुछ लोग ऐसा भी करते हैं। प्राचीन भारत में शुभ माध्यम से अर्जित अर्थ की ही प्रशंसा की गई है , गलत तरीके से बनाई गई सम्पत्ति की निन्दा की गई है । इतना ही नहीं धन संग्रह का आधार उपयोगिता माना गया ।

6. उद्योग धन्धे – स्मृतियों में अनेक प्रकार के उद्योग धन्धों का वर्णन आया है । नारदीय मनु स्मृति में जिन उद्योगों का वर्णन आया है , वे है –कुसीद वृत्ति अर्थात ब्याज पर रूपये देना , महापथिक (राजमार्ग के व्यापारी) , समुद्री व्यापार का भी वर्णन मिलता है। समुद्री व्यापार को समुद्र वणिक के नाम से जाना जाता था। अभिनेता को कुशीलव , नट को शैलूष , विष तथा मद्य के विक्रेता को विषजीवी कहा जाता था। अन्य धन्धे थे – आहितुंडिक (सपेरा) , कीनाश (कृषक) , साहसिक (दुराचारी) , मल्ल (कुश्ती लड़ने वाला) , तैलिक ,शौण्डिक (मद्यविक्रेता) , वर्षनक्षत्र सूचक (ज्योतिषी) , ऐन्द्रजालिक (जादूगर) , लुब्धक (बधिक) , चित्रकृत (चित्रकार) , मंख (स्मृति पाठक ,भाट) कूटकारक (छल प्रपंच के कार्य करने वाला) , मानव विक्रेता , तस्कर , वार्धुषिक (ब्याज पर धन देने वाला), कुहक (जादूगर) आदि । उस काल में विष विक्रेता (मद्य एवं गांजा आदि बेचने वाले), शस्त्र विक्रेता (हथियार के विक्रेता) , लवण विक्रेता (पसारी) , अपूप विक्रेता (हलवाई) , कुलिक (कलाकार) , स्वातक (भाट) , दास (सेवक) , नैकृतिक (जालसाजी से जीविका चलाने वाले) आदि धन्धे भी प्रचलित थे ।[82]

---

[81] हारीत0 7.189–192

[82] ना0मनु0 1.86–92 , 157–170 , 5.2–7

मनुस्मृति में अध्यापन , याजन (यज्ञ कराना) प्रतिग्रह ,दान लेना , राष्ट्ररक्षा , व्यापार और वाणिज्य , वार्ताकर्म , कृषि , गोरक्षा , पशुरक्षा , कुसीद तथा सेवा कार्य आदि धन्धों का उल्लेख किया है।[83] बुध स्मृति ने अध्यापन , याजन , प्रतिग्रह , कय विकय , वाणिज्य और साझेदारी , कृषि , पशुपालन , वाणिज्य और सेवा कर्म आदि उद्योगों का उल्लेख किया है।[84] बृहस्पति ने निम्न उद्योगों का उल्लेख किया है – सुवर्णकार , वृत्यकार ,सूत्रकार , काष्ठ शिल्पी , पाषाण शिल्पी , चर्मकार , नर्तक , देवगृहकार , धार्मिक वस्तुएं बनाने वाले आदि।[85] वृद्धहारीत ने निम्न उद्योगों का उल्लेख किया है –

1. मिट्टी के कार्य (मिट्टी के खिलौने आदि बनाना)
2. दारूकर्म (लकडी के खिलौने आदि बनाना)
3. शैलकर्म (पत्थर की मूर्तियाँ आदि बनाना)
4. लौहकर्म (लोहे के बर्तन और मूर्तियाँ बनाना)[86]

वृद्धहारीत ने सारथ्य (सारथी का काम) , गाणिक्य (वैश्याओं द्वारा नृत्य संगीत आदि) वैणव (बांसुरी वादन) आदि धन्धों पर भी उल्लेख किया है।

7. व्यापार और वाणिज्य – मनु ने जीविकोपार्जन के जो दस उपाय बताये हैं उनमें व्यापार भी प्रमुख है। व्यापार जीवन निर्वाह का साधन था। सामान्य रूप से स्मृतियों की यह मान्यता रही है कि व्यापार का कार्य वैश्यवर्ण के लोग ही करेंगे । किन्तु आपातकाल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को भी व्यापार करने की छूट दी गई है। किन्तु इनके व्यापार पर नाना प्रकार के निषेध थे । गौतम ने ब्राह्मण को निम्न वस्तुएं बेचने से मना किया है – सुगन्धित वस्तुएं , द्रव पदार्थ – तेल , घी आदि पका भोजन ,तिल , सन, क्षौम , मृगचर्य रंगा एवं स्वच्छ किया हुआ वस्त्र , दूध एवं उससे निर्मित वस्तुएं –घी ,दही, मक्खन आदि कन्दमूल , पुष्प–फल , जड़ी बूटी ,मधु ,मांस ,घास ,जल

---

[83] मनु0 10.75–84 , 115–116 , 8.410–415
[84] वृह0 13.33–37
[85] वृद्ध हा0 4.176–180
[86] वृद्ध0हा0 4.177–178

,विषैली औषधियां – अफीम , विष आदि, मारे जाने वाले पशु ,मनुष्य (दारू) ,बांझ , गायें , बछड़ा ,बछिया ,आदि।[87] कुछ विद्वानों ने ब्राह्मण को भूमि , चावल ,जौ बकरियाँ एवं भेड़ , घोड़े ,बैल, सद्यः प्रसूता गाय , जोतने योग्य बैल आदि को बेचना वर्जित माना है।

मनु का कथन है कि ब्राह्मण यदि मांस , लोहा और नमक बेचता है तो वह उसी क्षण पापी हो जाता है। तीन दिन दूध बेचने से वह शुद्र हो जाता है ।[88] तिल के सम्बन्ध में मनु , बौधायन , और वसिष्ठ तीनों के विचार एक से हैं । उनके अनुसार कोई व्यक्ति तिल का उपयोग खाने , स्नान करने तथा दान के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में करता है तो वह कृमि बन जाता है और अपने पितरों के साथ कुत्तों के विष्ठा में गिर जाता है।[89]

वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार प्रस्तर ,नमक , रेशम , लोहा , टिन , सीसा , सभी प्रकार के वन्य पशु सभी पालतु ,पशु तथा एक खुर वाले पशु–पक्षी एवं दांत वाले पशुओं को ब्राह्मण को नहीं बेचना चाहिए।[90] मनु ने इन वस्तुओं के अतिरिक्त इनमें मोम , कुश तथा नील को भी सम्मिलित किया है , याज्ञवल्क्य ने सोम , पंक , बकरी के ऊन से बने हुए कम्बल , चमरी हिरन के बाल, खली आदि को ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा बिकी किये जाने को निषेध किया है।[91] शंखलिखित तथा हारीत ने भी वर्जित विकेय वस्तुओं की सूची दी है। मनु ने ब्राह्मण को स्वोत्पादित तिल धार्मिक कार्यो हेतु बेचने को कहा है। याज्ञवल्क्य तथा नारद का भी यही मत है।[92] विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार राजा को विदेशी वस्तुओं पर दसवां भाग तथा आयातित वस्तुओं पर बीसवां भाग कर ग्रहण करना चाहिये।[93]

---

[87] गौतम 7.8–14

[88] सद्यः पतित , मांसेन लाक्षया लवणेन च।
श्रयहेंण शूद्रो भवति ब्राहमणः क्षीर विक्रयात् ।। मनु0 10.92

[89] कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सहभज्जाति । मनु0 10.91
बौधा0 2.1.76 , वरि0 2.30

[90] वसि0 धर्म0 2.24–29

[91] मनु0 1086–89 , याज्ञ0 3.39

[92] शंख अपरार्क द्वारा उद्धत पृ0 111 तथा स्मृ0 च0 1.180

[93] विष्णु0 धर्म0 3.79–30

याज्ञवल्क्य ने राजा को वस्तु का बीसवां भाग शुल्क रूप में ग्रहण करने को कहा है। यदि बेचने के लिये निषिद्ध वस्तु बेची जाती है तो राजा उस वस्तु को लेने का अधिकार रखता है।[94] जो व्यापारी आपस में मिलकर दूसरे देश से लाई गई वस्तु को कम मूल्य पर बिकने से रोक देते है या अधिक मूल्य पर बेचते हैं , उनके लिये उत्तम साहस का दण्ड निर्धारित है।[95] याज्ञवल्क्य स्मृति में निर्देश दिया गया है कि अपने देश की वस्तु को लेकर तुरन्त बेचने वाले व्यापारी को पांच प्रतिशत लाभ लेना चाहिये तथा दूसरे देश से लाई गई वस्तुओं को बेचने पर दस प्रतिशत लाभ लेना चाहिये।[96] राजा को आयातित वस्तु के मूल्य के साथ व्यय को जोड़कर केता और विकेता के लाभ का विचार करके मूल्य निर्धारित करना चाहिये तथा कर लगाना चाहिये।[97]

व्यापार में साझेदारी :— नारद स्मृति का कथन है कि जब बहुत से व्यापारी या विविध लोग मिलकर कोई व्यापार करते हैं तो वह व्यापार 'सम्भूय समुत्थान'' के नाम से जाना जाता है।[98] बृहस्पति स्मृति ने साझेदार व्यक्तियों में इन गुणों का समावेश होना आवश्यक बताया है – उन्हें चतुर , प्रज्ञाकुलीन , आलस्य रहित , सिक्कों की जानकारी वाला , आय–व्यय में कुशल ,ईमानदारी तथा शूरवीर होना चाहिए।[99]

बृहस्पति नारद और याज्ञवल्क्य के अनुसार जो व्यापारी संयुक्त होकर लाभ के लिये साझे में व्यापार करते हैं वे लोग अपनी–अपनी पूँजी के अनुसार लाभ या हानि ग्रहण करें या जैसा नियम बना लिया हो वैसा ही लाभ हानि में भाग लें ।[100] नारद, बृहस्पति तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार साझेदारों में से कोई सबके मना करने पर या बिना सम्मति लिये हुए कोई काम करके या प्रमाद से वाणिज्य की कोई वस्तु नष्ट कर देगा तो वही उसका हर्जाना देगा। यदि कोई राज उपद्रव आदि से रक्षा करेगा तो वह दसवां

---

[94] अर्धप्रक्षेवणाद् विशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।
व्यासिद्ध राजयोग्य च विकीतं राजगाभि तत।। याज्ञ0 2.261

[95] याज्ञ0 2.250

[96] स्वदेशपण्ये तु शतं वाणिग्रहयीत पञचकम् ।
दशकं पारदेश्ये तु यः सद्यः क्रय विक्रयो ।। याज्ञ0 2.252

[97] याज्ञ0 2.253

[98] ना0 6.1

[99] बृह0 स्मृ0 च0 2 पृ0 185

[100] बृह0 व्यवहार मयूख पृ0 200 , ना0 6.5 याज्ञ0 2.263

भाग प्राप्त करेगा। नारद ने राज उपद्रव के साथ देव उपद्रव तथा चोर उपद्रव का भी उल्लेख किया है।[101]

याज्ञवल्क्य के अनुसार सम्मिलित व्यापार करने पर यदि कोई व्यापारी बेइमानी करता है तो उसे किसी प्रकार का लाभ दिये बिना निकाल देना चाहिये। जो व्यापारी काम करने में अशक्त हो वह अपना काम किसी अन्य से करवा दे। यहि विधि ऋत्विक , किसान आदि सभी पर लागू होती है।[102] इन नियमों का प्रचलन व्यापारी , पुरोहित ,कृषकों , शिल्पकारों तथा नर्तकों आदि में था। याज्ञवल्क्य तथा नारद के अनुसार यदि कोई साझीदार विदेश चला जाता है और मर जाता है तो उसका भाग उसके उत्तराधिकारियों, पुत्रादि या सम्बन्धियों या सजातियों को दिया जाता है। यदि कोई उत्तराधिकारी अपना भाग नहीं मांगे तो दस वर्ष बाद साझेदारों को उसका भाग बाँट लेना चाहिये । यदि साझेदार उसका भाग नहीं लेता है तो राजा को उसका भाग ले लेना चाहिये।[103] बृहस्पति के विचार से नर्तकों ,संगीतज्ञो को समान भाग मिलता है । किसी भवन या मन्दिर के निर्माण में राजा को दो भाग प्राप्त होता है। बृहस्पति के मत से जो व्यक्ति सोना , चांदी ,सूत , लकड़ी , पत्थर , खाल आदि के सामान बनाते हैं उन्हें शिल्पी के नाम से जाना जाता है।[104]

8. स्मृतियों में सम्पत्ति की अवधारणा –

स्मृतियों में सम्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन आया है , जो यह सिद्ध करता है कि स्मृतियाँ व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करती हैं। सम्पत्ति का अधिकार आदि काल से प्राकृतिक अधिकारों की सूची में रहा है। प्राचीन भारतीय व्यवस्था इसका अपवाद नहीं है । स्मृतियों में सम्पत्ति के दो प्रकार बताये गये हैं–

1. स्थावर (गृह एवं भूखण्ड)

---

[101] ना0 3वि0पद 5–6 , याज्ञ0 2.264
[102] याज्ञ0 । 2.265
[103] याज्ञ0 2.264 , ना0 6.7.17–18
[104] बृह0 विवाद – रत्ना पृ0 123

2. जंगम

याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा अन्य स्मृतियों में सम्पत्ति के तीन भेद बताये गये हैं[105]–

1. भू (भूखण्ड एवं गृह)
2. निबन्ध
3. द्रव्य (चल सम्पत्ति एवं सोना चांदी)

चल एवं अचल सम्पत्ति को भी कभी–कभी द्रव्य के अन्तर्गत लिया गया है ।

स्मृतियों में सम्पत्ति को दो भांगो में बांटा गया है –

1. संयुक्त कुल सम्पत्ति
2. पृथक सम्पत्ति

संयुक्त कुल पैतृक सम्पत्ति होती है । यदि परिवार का ज्येष्ठ सदस्य अपने पुरूषार्थ से धन अर्जित करे तो उसमें परिवार के अन्य सदस्यों का भी भाग होता है।[106] पैतृक सम्पत्ति को अप्रतिबन्धित दाय भी कहते हैं और इसे कोई भी व्यक्ति अपने पिता , पितामह , प्रतिपितामह से दाय के रूप में प्राप्त करता है। मिताक्षरा के अनुसार पितामह के धन में पुत्र , पौत्र और प्रपौत्र का जन्म से अधिकार है।[107]

पृथक सम्पत्ति में स्वयं अर्जित सम्पत्ति आती है । यदि कोई व्यक्ति विभाजन द्वारा पैतृक सम्पत्ति का कोई भाग पाता है तो वह उसकी पृथक सम्पत्ति कही जाती है , यदि उसके परिवार में पुत्र आदि न हो। यदि उसके पुत्र ,पौत्र और प्रपौत्र हैं तो वह सम्पत्ति उनके लिये पैतृक सम्पत्ति कही जायेगी । नारद , मनु, याज्ञवल्क्य का मत है

---

[105] भूर्या पितामहोयात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा ।
तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैवहि ।। याज्ञ0 2.121
द्रव्ये पित्ता महोपात्ते स्थावरे जंगमेऽपिवा।। बृह0 26.14

[106] यत्किं चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ।। मनु0 9.204

[107] अनेक पितकाणां तु पितृतो भागकल्पना ।। मिता0 याज्ञ0 2.120

कि कोई भी व्यक्ति सम्मिलित परिवार का सदस्य होते हुए स्वयं विभिन्न उपायों से जो सम्पत्ति अर्जित करता है , उसे पृथक सम्पत्ति कहते हैं । इसके छः प्रकार बताये हैं[108]–

1. स्वयं उपार्जित धन ।
2. बन्धुओं या मित्रों से प्राप्त धन ।
3. वह सम्पत्ति जिसे कुल से किसी व्यक्ति ने बल पूर्वक अपने अधिकार में रखा हो , किसी सदस्य द्वारा वह सम्पत्ति प्राप्त की जाय।
4. विद्या से उपार्जित धन ।
5. विवाह में प्राप्त धन
6. पिता तथा माता द्वारा दिया गया धन ।

मनु का कथन है कि स्वर्जित धन पूरे कुल की सम्पत्ति मानी जाती है अतः वह अकेले व्यय नहीं की जा सकती ।[109] गौतम के मत से पिता के जीवित रहते पूरी सम्पत्ति उसी की है।[110] विष्णु ,नारद , मनु, तथा याज्ञवल्क्य के मत से जो कुछ कोई बिना संयुक्त सम्पत्ति की हानि से प्राप्त करता है , मित्रों से दान रूप में या विवाह में भेंट के रूप में जो कुछ पाता है , वह अन्य सहभागियों में विभाजित नहीं होता। नष्ट हुई सम्पत्ति को अपने उद्यम से प्राप्त करता है , उसे विभाजन के समय अन्य लोग नहीं पाते हैं। यही बात विद्याधन के विषय में भी है।[111]

अविभाज्य सम्पत्ति :– अविभाज्य सम्पत्ति वह होती है जो किसी अन्य द्वारा बांटी नहीं जा सकती । कात्यायन ने इसके अन्तर्गत विद्याधन को प्रमुखता दी है। इन्होने विद्याधन की परिभाषा इस प्रकार दी है – जो दूसरे के यहाँ रहकर किसी अन्य से विद्या ग्रहण करने के बाद उसके उपयोग से प्राप्त होता है या जो किसी मामले को सुलझाने के कारण अपनी विद्या से प्राप्त होता है , वही विद्याधन है। इसके अतिरिक्त

---

[108] मनु0 9.206 , याज्ञ0 2.118–119
[109] मनु0 8.416
[110] गौतम 28.29
[111] याज्ञ0 2.118–119 , विष्णु0 18.42 , ना0मनु0 013.10

गुरूदक्षिणा , पुरोहित की दक्षिणा , शंका निवारण तथा अपने ज्ञान से जो धन प्राप्त होता है उसे विद्याधन कहते हैं और उसका विभाजन नहीं होता है।[112]

नारद ने शौर्यधन को अविभाज्य माना है। कात्यायन ने शौर्यधन के अन्तर्गत माना है – स्वीकृत शौर्यधन जो नौकर या सैनिक को उसकी वीरता पर मालिक या राजा से प्राप्त हो एवं दूसरा ध्वछात – जिसे प्राणों की परवाह किये बिना शत्रु को भगाकर प्राप्त किया हो ।[113] स्मृतियों में कन्याधन को भी अविभाज्य माना गया है । कात्यायन नारद और बृहस्पति ने कन्याधन के दो भेद बताये है –

1. कन्यागत – जो अपनी जाति की कन्या से विवाह करते समय प्राप्त होता है।
2. वैवाहिक – वह धन जो पत्नी के साथ आता है ।

मनु और याज्ञवल्क्य ने इसे औद्वाहिक कहा है।[114]

विष्णु व मनु ने वस्त्र , वाहन , आभूषण , पक्वान्न , जल–कूपादि , सार्वजनिक स्थान , स्त्रियां (दासियों) , मन्त्री , पुरोहित , योग क्षेम साधक मार्ग आदि को अविभाज्य माना है।[115] शंखलिखित ने भी दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुओं , भवन , जलपात्र , जेवर तथा वस्त्र को अविभाज्य माना है। गौतम का मत है कि कूप , पवित्र , उपयोगी , एवं यज्ञों के लिये रखी गई सम्पत्ति एवं उत्सव आदि में बना भोजन तथा सदस्यों के रखैलों का विभाजन नहीं होता।[116] यदि कूप और नौकरानी एक ही हों तो उनका बारी–बारी से उपयोग करना चाहिये। बृहस्पति ने मनु का मत नहीं माना है तथा वस्त्र व आभूषण के भी विभाजन की बात कही है। मिताक्षरा का कथन है कि पिता के मृत्योपरान्त पिता सम्बन्धी वस्तुएं यथा वस्त्र , अलंकार , शय्या आदि श्राद्ध के समय ब्राह्मण को दान देना चाहिये।[117] मिताक्षरा के अनुसार योग क्षेम

---

[112] कात्यायन 867–873

[113] शौर्य भार्याधने हित्वा यच्च विद्याधनं भवेत्।
त्रीण्येतान्य विभांज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः ।। ना0मनु0 13.6

[114] मनु0 9.206 , याज्ञ0 2.118

[115] वस्त्रं पत्र मलंकार कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योग क्षेमं प्रचारं च न विभाज्य प्रचक्षयते ।। मनु0 9.219

[116] गौतम 28.44–46 , शंख लिखित धर्म0 इति0 2.856

[117] स्मृति0 2 पृ0 277

का अर्थ है – श्रोत एवं स्मार्त। स्मृति चन्द्रिका के मतानुसार योगक्षेम का अर्थ है वह धन जो किसी विद्वान ब्राह्मण को किसी धनी व्यक्ति के यहाँ रहने से जीविका के रूप में प्राप्त होता है।[118] मनु का मत है कि स्त्रियों के आभूषणों का विभाजन नहीं होता है। पति के जीवित रहते किसी स्त्री के सम्बन्धी उसका आभूषण लेते हैं तो वे पतित हो जाते हैं।[119]

9. करों के सम्बन्ध में शोषण से सुरक्षा :–

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राजकोष के महत्व को स्वीकार करते हुए इसे राज्य के सात अंगो में स्थान दिया गया है। बिना सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित कोष के शासन के संचालन की कल्पना भी नहीं की जा सकती । इसी बात को ध्यान में रखते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि राज्य के सम्पूर्ण कार्य अधिकोषण पर आधारित हैं। इसलिये राजा सबसे , पहले कोष पर ध्यान दें। राजकोष के लिये धन संचय हेतु राजा को सदैव प्रयत्न करना चाहिये। स्मृतियों में राजकोष के लिये धन संचय हेतु निम्न कर आरोपित करने के प्रावधान थे –

1. **बलि** – कृषि उपज पर लगाया जाने वाला कर जो कृषि उपज का षष्टांश लिया जाता था।
2. **शुल्क** – व्यापारिक वस्तुओं एवं सामग्रियों पर लगाया जाने वाला कर । मनु के अनुसार व्यापारी के लाभ का बीसवां भाग राजा को शुल्क के रूप में मिलना चाहिये।[120]
3. **दण्ड या अर्थदण्ड** – साहस , स्तेय , दण्ड,वाक् पारूष्य आदि अपराधों पर स्मृतियों में अर्थदण्ड की व्यवस्था है। अर्थदण्ड भी राजकोष की समृद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन है , विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिये अलग–अलग मात्रा में अर्थदण्ड की व्यवस्था है।

---

[118] स्मृति च02 , पृ0 277
[119] मनु0 9.200
[120] मनु0 8.398

4. **सन्तरण** – पुलों अथवा नावों से नदी पार करने की स्थिति में यह कर लगाया जाता था।
5. **पशुकर** – पशुओं का व्यापार करने वाले पर लगाया जाने वाला कर।
6. **शिल्पियों एवं श्रमजीवियों पर कर** – गौतम का कथन है कि राजा प्रजा की रक्षा करता है।इसलिये उसे जो कर प्राप्त होता है , वह उसका वेतन है।[121] यही कारण है कि स्मृतियों ने ऐसा विधान बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति राजा को कर दे। इसी उद्देश्य से राजा के शिल्पकारों यथा बढ़ई , लोहार , कारीगर , तथा मजदूर आदि से कर रूप में , माह में एक दिन का बेगार लेने की व्यवस्था की गई है।[122]
7. **आकर** – यह भी राज्य की आय का महत्वपूर्ण स्रोत था । मनु का कथन है कि राजा प्रजा के स्वर्ण के लाभ का पचासवां भाग कर के रूप में ग्रहण करे।[123] मनु ने खानो से प्राप्त वस्तुओं तथा दैनिक कार्य में उपयोगी वस्तुओं पर भी कर लगाने का विधान किया है । मनु ने राजा को वृक्ष , मांस , मधुमक्खी , गन्ध , दवा ,रस , पुष्प , मूल ,फल ,शाक पत्र , चमड़ा , मिट्टी तथा पत्थर की बनी वस्तुओं का षष्ठ भाग कर के रूप में प्रजा से वसूलने का निर्देश दिया है।[124] गौतम का भी यही मत है।[125]
8. **कर देने के निषिद्ध व्यक्ति** – विभिन्न स्मृतियों ने राजा को कुछ व्यक्तियों से कर लेने का निषेध किया है। नारद के अनुसार श्रोत्रिय को दैनिक उपयोग की वस्तुओं पर शुल्क नहीं देना पडता था। ब्राह्मणों को उपहार की वस्तुओं पर कर नहीं देना पड़ता था। अभिनेता की सम्पत्ति एवं वाहन पर कर नहीं लगता

---

[121] गौ0 10.28

[122] कारू काञिछल्पि नश्चैव शूद्रां श्चात्मोपजीविन :
एकैकं कारयेत् कर्म मासि मासि महीपतिः ।। मनु0 7.138

[123] मनु0 7.130

[124] मनु0 7.131–132

[125] गौतम , 010 अ0 2 अंक

था।[126] मनु के अनुसार राजा के पास सब कुछ समाप्त हो जाने पर निर्धनता की स्थिति में भी ब्राह्मण से कर नहीं लेना चाहिये।[127] मनु के मतानुसार ही राजा अन्धे , मूर्ख , पंगु , वृद्ध तथा श्रोत्रिय से निर्धन होने पर भी कर वसूल न करें।[128]

अधिकोषण के सिद्धान्त — स्मृतियों में इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि राजा धर्मानुसार ही अर्थ संग्रह करे , मनमाने तरीके से नहीं । राजा को ऐसी नीति का अनुसरण करने का सुझाव दिया गया है कि जिससे राजा और प्रजा दोनों का मूलोच्छेदन हो , वरन् उनका कल्याण हो । राजा को कार्य के अनुसार तीक्ष्ण एवं मृदु होना चाहिये क्योंकि इस प्रकार का आचरण धारण करने से वह सबका प्रिय होता है।[129] जो राजा अज्ञानतावश प्रजा का शोषण करता है , वह राज्य से शीघ्र भ्रष्ट होकर अपने बन्धु बान्धव एवं स्वयं का विनाश करता है।[130] जिस प्रकार शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण क्षीण होते हैं , उसी प्रकार राष्ट्र का शोषण करने से राजाओं के प्राण क्षीण होते हैं।[131]

राजा करारोपण और संग्रह में प्रजा का शोषण न करें और धर्मानुसार यह कार्य सम्पन्न करें इसके लिये स्मृतियों में अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है , जिनमें से कुछ प्रमुख निम्न हैं–

(क) अल्प तथा शनैः–शनैः धन संचय का सिद्धान्त – कोष में सम्पत्ति सदा बनी रहे इसके लिये राजा को प्रजा से अल्प तथा शनैः–शनैः कर ग्रहण करना चाहिये।[132] धन संचय के इस सिद्धान्त के प्रतिपादन हेतु मनु ने बछड़े , जोंक और भ्रमर का उदाहरण दिया है । बछड़ा अल्प मात्रा में शनैः–शनैः अपनी माता का दुग्धपान करता

---

[126] ना0 सम्भूय समुत्थान 14–15 श्लोक ।
[127] मनु0 7.133
[128] मनु0 8.394
[129] मनु0 7.139–140
[130] मनु0 7.111
[131] मनु0 7.112
[132] यथाल्पाल्प मदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पोल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः ।। मनु0 07.129

है किन्तु गाय दुग्धपान कराने में किंचित मात्र भी कष्ट का अनुभव न करके वत्स को आनन्दित करती है। जोंक शरीर में चिपक कर धीरे–धीरे रक्तपान करती है और तृप्त होकर शरीर छोड देती है। किन्तु पशु या मनुष्य को इस बात का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं होता है कि कोई उसके शरीर से रक्तपान कर रहा है। भ्रमर पुष्प पर बैठकर शनैः–शनैः मधुपान करता है किन्तु वह पुष्प को कोई क्षति नहीं पहुचाता। इस प्रकार मनु ने राजा को कोष में वृद्धि हेतु धन संचय को कहा है।

(ख) प्रजा पालन का नियम – मनु के मत से वही राजा स्वर्ग को प्राप्त करता है जो सदैव प्रजा पालन में संलग्न रहता है। तभी वह प्रजा से कर ग्रहण करने का अधिकारी भी होता है। जो राजा प्रजापालन का कार्य नहीं करते किन्तु कर वसूलते हैं उनके विरूद्ध प्रजा इस लोक में विद्रोह करती है तथा मृत्योपरान्त वह नरकगामी होता है।[133] वह राजा प्रजा के समस्त पापों का भागी होता है।[134]

(ग) लाभांश पर कर लगाने का नियम – स्मृतियों के मत से अधिकोषण की पूर्ति हेतु लाभ पर ही कर लगाना चाहिये। वस्तु अथवा सामग्री के मूलधन पर कर नहीं लगाना चाहिये। कय–विकय , मार्गव्यय , भरण–पोषण एवं रक्षादि व्यय और उनके निर्वाह सम्बन्धी व्ययों को देखकर व्यापारियों पर कर लगाना चाहिए।[135] राजा को अपनी प्रजा पर कर लगाते समय इस बात का भलीभांति ध्यान रखना चाहिये कि प्रजा पर कर इस प्रकार लगाए जायें जिससे राष्ट्र और राजा दोनो का कल्याण हो ।[136]

(घ) राष्ट्रीय योजना नियम – राष्ट्र को सुसम्पन्न एंव समृद्ध बनाने के लिये राजा को अनेक योजनायें बनानी पड़ती हैं और उन्हें समयानुसार कियान्वित भी करना पड़ता है। किन्तु इन योजनाओं को कियान्वित करने के लिये समुचित धन की आवश्यकता होती है। राजा यह धन कर रूप में प्रजा से प्राप्त करता है। इसी विचार से मनु ने भी राजा की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये अपने अधीन प्रजा पर कर लगाने का

---

[133] मनु0 9.253
[134] प्रतिभागं च दण्डं च सद्योनरकं व्रजेत् ।। मनु0 8.307
[135] क्रय–विकयमध्वानं भक्त च सपरिव्ययम् ।
योग क्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्कारान्।। मनु0 7.127
[136] तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत् सततं करान्।। मनु0 7.128

अधिकार विधिवत स्वीकार किया है , किन्तु योजनायें प्रजा के कल्याण की वृद्धि करने वाली होनी चाहिये । अर्थात इन योजनाओं के कियान्वित होने से राष्ट्र की सुसम्पन्नता एवं उसकी समृद्धि का पूर्ण योग होना चाहिये।[137]

(च) व्यथा मुक्ति नियम – अधिकोषण हेतु प्रजा से करों के रूप में धन–संचय के लिये ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये , जिससे प्रजा से धन–संचय तो कर लिया जाय किन्तु उसे धन देने में किसी प्रकार का क्लेश न अनुभव होने पाये। इसलिये प्रजा पर कर लगाने में व्यथा मुक्ति सिद्धान्त का आश्रय लेना आवश्यक है।

(छ) अधिक कर का निषेध – स्मृतियों ने राजा को अधिक कर लगाने पर प्रतिबन्ध आरोपित किया है। मनु का कथन है कि प्रजा से धन–हरण करने की चेष्टा से राजा और प्रजा दोनो का नाश होता है , राजा को प्रजा से कर न लेकर अपनी जड़ नहीं काटनी चाहिए और न ही प्रजा से अधिक कर लेकर उसका मूलोच्छेद करना चाहिये। यदि राजा प्रेमवश कर नहीं लेता तो उसका कोष रिक्त हो जायेगा जिससे पीड़ित होकर वह नष्ट हो जायेगा। लोभवश प्रजा से अधिक कर नहीं लेना चाहिये ,अन्यथा वह प्रकृति कोप से नष्ट हो जायेगा।[138]

इस प्रकार स्मृतियों ने राज्य की आर्थिक समृद्धि और व्यक्ति के आर्थिक संरक्षण के बीच अद्भुद् समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। करारोपण और करसंग्रह के विहित सिद्धान्तों का अनुपालन करने पर राजकोष भी समृद्ध रहता था और व्यक्ति भी आर्थिक शोषण से बचा रहता था।

---

[137] मनु0 7.128

[138] नोच्छिन्द्यादात्मनों मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्हयात्मनो मूलमात्मान तांश्च पीडयेत् ।। मनु0 7.139

चतुर्थ–अध्याय

शान्ति एंव सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार

शान्ति एवं सुरक्षा के अधिकार

सभ्यता और संगठन के इतिहास के प्रारम्भ के साथ ही जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों को प्राकृतिक अधिकारों के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। इसका निहितार्थ यह है कि व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति के सुरक्षा का दायित्व राज्य का है। यही कारण है कि प्राचीन काल हो अथवा आधुनिक या कोई भी विचाराधारा हो (यथा व्यक्तिवाद , समाजवाद ,उदारवाद , आदर्शवाद , या लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा) सब ने राज्य के सुरक्षात्मक कार्यो को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। वास्तव में राज्य के कार्यो को हम दो भागों में बांट सकते हैं – 1. अनिवार्य कार्य व 2. ऐच्छिक कार्य। सुरक्षा से सम्बन्धित कार्य राज्य के अनिवार्य कार्यो की श्रेणी में आता है। इसके अतिरिक्त सभी कार्य ऐच्छिक होते हैं।

वास्तव में सुरक्षा का अधिकार समस्त मानव अधिकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जीवन का अधिकार , स्वतंत्रता का अधिकार और सम्पत्ति का अधिकार महत्वपूर्ण मानवाधिकार हैं , जिन्हें प्राकृतिक अधिकार माना गया है । किन्तु इन अधिकारों के सुरक्षा की कोई व्यवस्था न हो तो इन अधिकारों के होने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। समुचित सुरक्षा व्यवस्था के अभाव में ये अधिकार अर्थहीन हो जाते हैं क्योंकि असुरक्षा की स्थिति अराजकता को जन्म देती है। और अराजकता मत्स्य न्याय को ऐसे में सुरक्षा के बिना किसी अधिकार की कल्पना को अन्य मानवाधिकार का आधार माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

यही कारण है कि अधिकांश दार्शनिकों व शास्त्रकारों ने राज्य और राजा के कार्यो में सुरक्षा के कार्य को प्राथमिक और अनिवार्य मांना है। राज्य और राजनीतिक व्यवस्था का अस्तित्व ही सुरक्षा के लिये है । सुरक्षा के वातावरण में ही सभी प्रकार के विज्ञान पनपते व फलते–फूलते हैं तथा समाज विकास की ओर अग्रसर होता है। मनु ने राज्य और राजा की उत्पत्ति ही अराजकता का अन्त कर सभी को भयमुक्त करने व

सबकी रक्षा के लिये ईश्वर द्वारा की गई माना है।[1] और यही कारण है कि मनु ने राज्य की सर्वोच्च शक्ति "दण्ड" की भूरि–भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है कि दण्ड सभी प्राणियों पर शासन करता है और दण्ड ही सबकी रक्षा करता है , सबके सो जाने पर केवल दण्ड ही जागता रहता है और विद्वानों ने इसी दण्ड को ही धर्म कहा है।[2] एक अन्य स्थान पर मनु ने स्पष्ट लिखा है कि यदि दण्ड न हो तो कौवे पुरोडाश खा लें , कुत्ते हवि चाट लें , और किसी का किसी पर अधिकार न रहे बड़ा छोटे से सब छीन ले और नीच उच्च जैसे बर्ताव करने लगे।[3] अर्थात सर्वत्र अराजकता व्याप्त हो जाए। केवल दण्ड के भय से ही संसार न्याय पथ पर चलायमान होता हे क्योंकि स्वभाव से निर्दोष मनुष्य दुर्लभ हैं। यह चराचर जगत दण्डभय से ही अपने–अपने भोग भोगने में समर्थ होता है।[4]

बिना सुरक्षा के समाज और सभ्यता संभव नहीं है इसलिये शास्त्रकारों ने राज्य के उद्देश्यों और कार्यों में तथा राजा के कर्तव्यों में सुरक्षा को महत्व दिया है। यजुर्वेद का कथन है कि इन चार प्रमुख कार्यो के लिये राजा का अभिषेक किया जाता है[5] –

1. राजा राज्य के कृषि की उन्नति करें ।
2. जनता का सर्वाविधि कल्याण हो । राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था हो ।
3. राज्य के ऐश्वर्य , धन–धान्य और श्री की वृद्धि ।
4. राज्य की प्रजा का भरण पोषण ।

यजुर्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि राजा का निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अभिषेक किया जाता है।[6]

1. तेजस्विता , ओजास्तिता के लिये ,

---

[1] अराजके हि लोकेऽस्मिनसर्वतो विद्रुतं मयात् ।
रक्षार्थ मस्य सर्वस्य राजानाम सृजत् प्रभुः ।। मनु0 7.3

[2] दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः ।। मनु0 7.18

[3] अद्यात्काकः पुरोडांशं श्वा च लिह्यात्द्धविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात्क स्यिंश्चि प्रवर्तेताधरोत्तम्।। मनु0 7.21

[4] सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभोहि शुचिर्नरः
दण्डस्य हि भयात्सर्व जगद्भोगाय कल्पतें ।। मनु0 7.22

[5] उद्धत डा0 कपिल देव द्विवेदी , बेदो में राजनीति शास्त्र , ज्ञानपुर , 1998 पृ0 49

[6] वही

2. शिक्षा प्रसार के लिये,
3. अन्न समृद्धि के लिये,
4. प्रजा की नीरोगिता के लिये,
5. जनता के संरक्षण के लिये और शक्ति संचय के लिये,
6. श्री वृद्धि के लिये , व
7. प्रजा के यश की वृद्धि के लिये

राज्य के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राजा का यह भी लक्ष्य होना चाहिये कि अत्याचारी ,अन्यायी , चोर डाकू आदि जनता को अस्त्र–शस्त्रों का भय दिखाकर लूट न सके।[7] इस प्रकार शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करना तथा जनता का सर्वांगीण सांस्कृतिक ,नैतिक और भौतिक विकास करना राज्य के प्रमुख उद्देश्य थे।

यजुर्वेद के कुछ मंत्रो से राज्य के कार्यों पर प्रकाश पड़ता है । इन मंत्रों में राज्य के अनेक कार्यों में सुरक्षा कार्य को प्राथमिकता प्रदान की गई है , जैसे

1. प्रजा को संरक्षण देना और उसको पुष्ट करना।[8]
2. माता , पिता जिस प्रकार पुत्र की रक्षा करते हैं , उसी प्रकार प्रजा की रक्षा करना।[9]
3. न्याय और सुव्यवस्था को प्राथमिकता देना।[10]

महाभारत में भी प्रजा की रक्षा करना , राजा का प्रमुख कार्य माना गया है।[11] राजा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें और प्रजा को सुरक्षा प्रदान करे।[12] राजा का प्रमुख कार्य है – सभी प्राणियों की रक्षा करना ।[13] इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रजा को सुरक्षा प्रदान करना राज्य का प्रथम कर्तव्य है।

---

[7] वही पृ0 50
[8] राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिवर्धयमानः । यजु0 9.25
[9] पुत्रामिव पितरौ ....अवथु : । यजु0 09.39
[10] संरक्ष्यान धर्मपतीनाम् । यजु0 9.39
[11] संरक्ष्यान पालमेद् राजा , स राजा राजसत्तमः । शन्ति0 89.10
[12] शत्रून् जय प्रजां रक्ष । शान्ति0 89.9
[13] रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षात्रं परं मतम् । शान्ति0 120.3

स्मृतियों तथा अन्य धर्मशास्त्रों में भी प्रजा के पालन एवं संरक्षण को राजा का प्रमुख कर्तव्य बताया गया है। प्रजा रक्षण से तात्पर्य है कि चोरों , डाकुओं आदि भीतरी आक्रमणों तथा बाहरी शत्रुओं से प्रजा के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा करना।[14] राजा का कर्तव्य है कि वर्णाश्रम को सुरक्षित रखे तथा उचित दण्ड की व्यवस्था करे। राजा धर्म के लिये होता है न कि भोग साधन के लिये। राजा सम्पूर्ण जगत का रक्षक है। राजा का कर्तव्य था कि वह प्रजा को अपने कर्तव्य पथ से विचलित न होने दे । प्रजा के सुख में ही राजा का सुख निहित रहता है। प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण हैं। जो मात्र राजा को अच्छा लगता है उसे राजा अच्छा नहीं समझेगा तथा जो प्रजा को अच्छा लगता है उसे वह अच्छा समझेगा।[15]

मनु ने राजा का प्रधान कर्तव्य बताया है कि उसे चोर डाकुओं से प्रजा की रक्षा करनी चाहिये अन्यथा वह मरा हुआ समझा जाएगा। राजा का आह्वान किया गया है कि पापी और दुष्टों को दण्ड देने के लिये अग्नि के समान प्रतापी और तेजस्वी होवे।[16] वसिष्ठ ने प्रजा रक्षण को जीवन भर का यज्ञ बताया है , जिसमें राजा को भय तथा कोमलता का त्याग कर देना चाहिये।[17] गौतम ने सभी व्यक्तियों की सुरक्षा करना , वर्ण तथा आश्रमों की रक्षा करना और उचित दण्ड व्यवस्था बनाये रखना राजा का प्रधान कर्तव्य बताया है।

मनु के अनुसार राजा का कर्तव्य है कि वह विद्वानों को दान दे , युद्ध में पीछे न हटे , युद्ध के अयोग्य व्यक्ति पर शस्त्र न चलावे।[18] राजा को अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त हुए की रक्षा करना चाहिये रक्षित को बढावे तथा बढे हुए द्रव्य को योग्य पात्रों में वितरित कर दें।[19] राजा दण्ड विधान को चुस्त रखे, सैन्य शक्ति का प्रदर्शन करे , मन्त्रणाओं को गुप्त रखे , शत्रुओं का भेद गुप्तचरों से ज्ञात करें तथा अपनी मन्त्रणाओं

---

[14] मानव धर्म0 7.144
[15] मावन धर्म0 7.305
[16] मनु0 9.310
[17] वसिष्ठ 19.1–2
[18] मनु0 7.99–101
[19] मनु0 7.99–101

को शत्रुओं को ज्ञात न होने दें।[20] राज्य की रक्षा करें तथा शत्रुओं का नाश करे। साम, दाम ,दण्ड ,भेद इन चारों उपायो से राष्ट्र की उन्नति करें।[21] जैसे किसान शस्य , की रक्षा करता है और तृणों को उखाड़कर फेंक देता है वैसे ही राजा को शत्रुओं का नाश करके देश की रक्षा करनी चाहिए।[22] देश की रक्षा करने के लिये राजा नियमों को नित्य करे क्योंकि देश के सुरक्षित होने से ही राजा सुखी होता है।[23]

मनु ने राजा के जो मुख्य पाँच कर्तव्य बताये हैं उनमें भी राष्ट्र की रक्षा महत्वपूर्ण है। पाँच कर्तव्य हैं – मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति , राष्ट्र रक्षा , दण्ड विधान को व्यवस्थित करना , दुर्ग व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था को सुदृढ करना।[24] बृहस्पति के अनुसार राजा प्रजा की रक्षा करें तथा न्याय कार्य करे।[25] प्रजा की शत्रुओं चोरों और अन्यायी दुष्टों से रक्षा करनी चाहिये । प्रजा की रक्षा और दुर्जनों का विनाश ये दोनो कार्य महायज्ञ के समान है।[26] मनु ने इस विचार का समर्थन किया है कि जो राजा प्रजा से कर लेकर रक्षण कार्य नहीं करता वह सबसे निकृष्ट है। पापी तथा अधर्मियों को दण्डित किया जाना चाहिये।[27] राजा को चोर, डाकुओं आदि आतंकियों को समाप्त कर देना चाहिये। इनके रहने पर राष्ट्र वृद्धि नही कर सकता । उसे राज्य की स्थिति जानने के लिये वेश बदल कर भ्रमण करना चाहिये तथा जानकारी हेतु गुप्तचरों को नियुक्त करना चाहिये।[28] राजा कोष का धन चुराने वालों को , देशद्रोहियों , राजज्ञा न मानने वालों को मृत्युदण्ड दे। राजा में यह योग्यता होना चाहिये कि वह उद्यमी , पुरूषार्थी तथा नवीन योजनाओं को बनाने वाला हो ।[29] राजा को युद्ध स्थल से पीछे नहीं हटना चाहिये , हमेशा विजय

---

[20] मनु0 7.102–103
[21] मनु0 7.109
[22] यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यच रक्षति।
तथा रक्षेन्नयो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ।। मनु0 7.110
[23] राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिद माचरेत्।
सुसंग्रहीत राष्ट्रोहि पार्थिवः सुखमेधते ।। मनु0 7.113
[24] अमात्य राष्ट्र दुर्गार्थदण्डारव्याः पञ्च चापराः ।। मनु0 7.157
[25] बृह0 1.22
[26] बृह0 1.39 , 42
[27] मनु0 8.306–310
[28] मनु0 9.252–261
[29] मनु0 9.275 , 298–300

प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये और व्यापारियों से कर वसूलना चाहिये।[30] बुध स्मृति ने भी राजा को पापियों और अत्याचारियों को पूर्णतः समाप्त कर देने और समस्त प्रकार के विवादों के निपटारे का निर्देश दिया है।[31]

इस प्रकार सभी शास्त्रकारों ने राज्य की रक्षा को राज्य और राजा का प्रमुख कर्तव्य माना है। वास्तव में प्रत्येक राज्य में शान्ति और व्यवस्था को भंग करने वाले कुछ शत्रु रहते हैं। ये राज्य में अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। राजा का कर्तव्य है कि वह इन शत्रुओं को नष्ट करे तथा राष्ट्र में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करे। राष्ट्र के इन शत्रुओं को हम दो भागों में बांट सकते है – 1. आभ्यन्तर अर्थात आन्तरिक शत्रु 2. बाह्य शत्रु । आभ्यन्तर शत्रु वे है जो अपने ही राष्ट्र के है। ये आन्तरिक शत्रु दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति , भूमि , भवन आदि का हरण करते हैं , स्त्रियों की मान मर्यादा को आघात पहुँचाते हैं , दूसरों की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाते हैं , और राजकीय सम्पत्ति आदि को हानि पहुँचाते है । वाह्य शत्रु वे हैं , जो दूसरे राष्ट्र से सम्बन्ध रखते हैं। ये शत्रु राष्ट्र पर आक्रमण करते है , जनसंहार करते हैं , गुप्तचरों द्वारा जनता में असन्तोष उत्पन्न करते हैं और राज्य में अशान्ति और अव्यस्था फैलाते है। इन दोनो प्रकार के शत्रुओं का दमन कर राष्ट्र के व्यक्तियों के जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है।

1. आन्तरिक शत्रु और उनके दमन के उपाय :– राष्ट्र के आन्तरिक शत्रु समाज की व्यवस्था को बिगाड़ने वाले व्यक्ति हैं। इनमें चोर , डाकू , व्यभिचारी , आततायी , समाज के शोषक आदि आते हैं। वेदों में चोर के लिये स्तेन और तायु शब्द प्रयुक्त किया गया है। पापी के लिये अध शंस , डाकू के लिये तस्कर , बटमार के लिये पुंश्चलू ओर पुंश्चली , पशुचोर के लिये पशुतृप, समाज शोषक के लिये अराति , अरावन् आदि शब्द आये हैं। अनेक मंन्त्रों में इन्हे नष्ट करने की प्रार्थना की गई है। चोरी करने

---

[30] स्वधर्मो विजयस्तेस्य नाहवे स्यात् परङ्0 मुखः।
शस्त्रेण वैश्यान रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद् बलिम् ।। मनु0 10.119

[31] बुध0 अ0 ।

वाला समाज का शत्रु है , उसका पतन हो।[32] पापियों और दुर्विचार वालों को शस्त्रों से मार दो।[33] धूर्त पापियों को विष देकर मार दो।[34] चोरों का सिर और गर्दन काट दो।[35] चोर के हाथ पैर काट दो।[36] शोषकों को सताकर निर्बल कर दो।[37] जो विद्वानों पर आक्रमण करें , उनको नीचा दिखाओं।[38] यजुर्वेद में स्तेन (चोर) , तस्कर (डाकू) मलिम्लु (दुर्व्यसनी) , अयाधु (पापी) और निन्दकों को नष्ट करने तथा भस्मसात् करने का उल्लेख है।[39]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वेदों में आभ्यन्तर शत्रुओं को समूल नष्ट करने का विधान है । इसके लिये राजा को उत्तरदायी माना गया है। राजा इनको नष्ट करें या नियंत्रित करें । राजा की ओर से इसके लिये क्या व्यवस्था की जाती थी , इसका विवरण प्राप्त नहीं है। राजकृतों में ग्रामणी (ग्राम प्रधान) का उल्लेख आया है।[40] ज्ञात होता है कि ग्राम पंचायत या ग्रामणी क्षेत्रीय स्तर पर इन अपराधों को रोकने की व्यवस्था करते थे। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में रूद्र के गणों का निर्देश है। इनके लिये कहा गया है कि ये मार्गों की रक्षा का कार्य करते थे और जीवन भर सैनिक का कार्य करते थे।[41] ये मनुष्य के स्वामी एवं अधिपति हैं।[42] ये तीर्थों पर धनुष बाण , तलवार आदि लेकर सुरक्षा के उद्देश्य से घूमते थे।[43] इससे ज्ञात होता है कि गण–सैनिकों को सामान्य सुरक्षा का काम दिया जाता था और वे मार्गों में चोरी , डकैती आदि को रोकते थे तथा तीर्थ आदि स्थानों पर सुरक्षा की व्यवस्था करते थे। अथर्ववेद में संकेत है कि कुछ सैनिक (पुरूष) आन्तरिक सुरक्षा के कार्य में लगाये जाते थे। इनको शत्रुनाशक

---

[32] ऋग0 7.104.10
[33] ऋग0 1.94.9
[34] ऋग0 10.87.23
[35] अ0 19.49.9
[36] अ0 1.16.4
[37] अ0 8.4.1
[38] अ0 3.19.3
[39] यजु0 11.77–80
[40] ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। अ0 3.5.7
[41] ये पथां पथिरक्षयः । आयुर्युध । यजु0 16.60
[42] ये भूतानामधिपतयः । यजु0 16.6.59
[43] ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्0 गिणः । यजु0 16.61

(सपत्नहा) बलिष्ठ (प्राणसंशित) और सैनिक तेजस्विता वाला (पुरूषतेजाः) कहा गया है।[44] यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि वर्तमान पुलिस शब्द 'पुरूष' शब्द का ही विकसित रूप है।[45] अशोक के अभिलेखों में पुलिस के लिये 'पुरिस' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक अन्य मन्त्र में इनको अग्नि के समान तेजस्वी (अग्नितेजाः) , और पृथ्वी की रक्षा के लिये अनुप्राणित (पृथिवी संशित) कहा गया।[46]

वेदों में अनेक स्थलों पर उल्लेख आया है कि पापी , मायावी , धूर्त और चोरों आदि को नष्ट कर दो , जला दो या बन्धन में डाल दो।[47] छान्दोग्य उपनिषद में वर्णन है कि असत्यवादी को पकडकर लाया जाता था और उसकी अग्नि परीक्षा ली जाती थी । लोहे की गर्म छड़ या कुल्हाडी उसके हाथ में दी जाती थी । यदि वह असत्यवादी होता था तो उसका हाथ जल जाता था , यदि सत्यवादी होता था तो उसका हाथ नहीं जलता था।[48] प्राचीन चर व्यवस्था के द्वारा भी अपराधियों का पता लगाया जाता था और उन्हे अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता था।

स्मृतियों में प्रजा की आन्तरिक सुरक्षा के उद्देश्यों से विविध प्रकार के अपराधों व दण्ड व्यवस्था पर विचार से प्रकाश डाला गया है। स्मृति चन्द्रिका तथा पराशर माधवीय के अनुसार पितामह का मत है कि राजा कुछ विषयों या प्रपत्र का स्वयं निरीक्षण करता है।[49] बिना किसी के द्वारा सूचित हुए , अभियोगों या प्रार्थना पत्र उपस्थित किये बिना प्रपंचो को अपराध का नाम दिया जाता है । इन्हे पद और छल के नाम से भी जाना जाता है।

धर्मशास्त्रों ने षड्रिपुओं का वर्णन किया है – काम , क्रोध , मद , मोह , लोभ में इसका समावेश हो जाता है । इन पर विजय प्राप्त कर लेने से व्यक्ति सद्गुण सम्पन्न तथा जितेन्द्रिय हो जाता है। रिपुओं की विजय होने पर मनुष्य उद्दण्ड हो जाता

---

[44] सपरलहा प्राणसंशितः पुरूषतेजा । अ0 10.5.35
[45] डा0 कपिलदेव द्विवेदी , पूर्वोक्त , पृ0 296
[46] सपत्नहा पृथिवी संशितोऽग्नितेजा । अ0 15.5.1
[47] ऋग0 18.87.23
[48] सो ऽनृतामि सन्धो ....परशुं तप्तं प्रतिगृहणाति , सदह्यते । छान्दोग्य उप0 6.16. 2 ,3
[49] छलानि चापराधांश्च पदानि नृपतेस्तथा।
स्वयेंतानि गृहयीयान्नृ परस्त्वावेद कैर्विना ।। पितामह स्मृ0 च0 2 पृ0 27

है।मानव का विवेक ही प्रत्येक कार्य को करने के लिये प्रोत्साहित करता है। जब मानव का विवेक इन शत्रुओं के वेग के आगे मन्द पड़ जाता है , तब वह अपराध की ओर प्रवृत्त हो जाता है। जब तक वह इन वेगों के समक्ष झुकता रहता है , तब तक वह अपराध करता रहता है। इसलिये स्मृतियाँ आदि ग्रन्थों ने दण्ड के विधान का निर्माण किया है जिससे अपराधी पुनः अपराध में प्रवृत्त न हो । नारद के अनुसार कोई भी व्यक्ति मन की चेष्टाओं के द्वारा अपराध में लिप्त होता है। अतः यह मनोविज्ञान पर आधारित रहता है। मानव के सम्पूर्ण कर्मो का समावेश इन मनोभावों में हो जाता है। इन अपराधों या विवादों के प्यार क्रोध , लोभ ये तीन कारण हैं और इनके तीन प्रकार के उद्देश्य भी हैं। तीनो उद्देश्यों में से कोई भी कानून का सहारा लेने का कारण बन सकता है।[50]

अपराध के विविध प्रकार :— अपराध को सर्वप्रथम मनोविज्ञान के आधार पर कायिक , मानसिक , तथा वाचिक तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। नारद का कथन है कि प्रत्यामियोगों जैसे अपराधों में दोनो पक्ष अपराधी होते हैं। दोनो पक्षों को दण्ड मिलता है । जिसका दोष पहले होता है उसे अधिक दण्ड मिलता है।[51] याज्ञवलम्य तथा नारद के अनुसार प्रत्यभियोग वाक्यपरूष्य और सहसादि अपराधों में भी किया जाता था।[52]

नारद स्मृति में दस प्रकार के अपराधों का उल्लेख है – 1. नृपाज्ञा का अतिकमण , 2. नारी–वध 3. वर्णसंकर 4. परस्त्रीगमन 5. चोरी 6. पति बिना गर्भधारण 7. वाक्यपरूष्य, 8. अश्लीलता 9. दण्ड पारूष्य तथा 10. गर्भपता । ये कर्म अपराध की श्रेणी में आते है तथा इनको करने वाला अपराधी कहा जाता है तथा उसे अर्थदण्ड भी देना पड़ता है। नारद ने इन अपराधों के कुछ विषयों को व्यवहार पदों में , कुछ को वर्णसंकर तथा प्रकीर्णक में वर्णित किया है। राजा बिना किसी के द्वारा सूचित किए हुए आवेदन

---

[50] Nor Sam , Jollys Trans . Chap – I. 22 उद्धृत डा0 प्रतिमा आर्य , स्मृतियों में राजनीति और अर्थशास्त्र , ज्ञानपुर , 1987 पृ0 137

[51] ना0 15.9

[52] याज्ञ0 02.10 , ना0 15.9

दिए बिना भी इन अपराधों के विषय में छान बीन कर सकता था।[53] राजा "सूचक" तथा "स्तोभक" अधिकारियों द्वारा अपराध के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करता था।[54] देवपाल देव के नालन्दा तामृपात्र में दशापराधिक पदाधिकारी का नामोल्लेख है।[55] गुप्त अभिलेख में "सदशापराध" का वर्णन है।[56] एपीगाफिया इन्डिया में भी दस अपराधों का वर्णन है।[57]

अठारह प्रकार के व्यवहार पद भी अपराध के विविध रूपों में लिये जा सकते हैं। अनुचित रीति से किया गया व्यवहार अपराध है। उस अपराध की प्रवृत्ति को छोड़ने के लिये दण्ड दिया जाता था, जिससे अपराधी पुनः अपराध कर्म में प्रवृत्त न हो। अपराधों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है –

1. सामाजिक तथा व्यवहार सम्बन्धी अपराध।
2. आर्थिक अपराध।
3. राज्य सम्बन्धी अपराध।

अपराध का स्वरूप तथा दण्ड :– उपर्युक्त तीनों श्रेणी के अपराधों के अन्तर्गत अनेकों अपराधों का समावेश हो जाता है। मनु ने वेतनयानपाकर्म शीर्षक में लिखा है कि जो सेवक निरोगी होकर अहंकार के कारण ठीक से काम नहीं करता उस पर आठ रत्ती सोना दण्ड करें और वेतन न दें, क्योंकि वह अपराधी की श्रेणी में आता है।[58] यदि सेवक वेतन लेकर काम न करे तो राजा नौकर से दुगना दण्ड स्वामी को दिलवाये, यदि उसने वेतन न लिया हो तो वेतन के बराबर उससे कार्य ले, खेती आदि वस्तुओं की रक्षा भृत्य से करावें।[59]

---

[53] आज्ञालघंन कर्त्तार : स्त्रीवधो वर्णसंकरः।
परस्त्रीगमन चौर्य गर्भश्चैव पतिबिना।।
वाक्यारूष्म स्यमवाच्यं उद्दण्ड पारूष्यमेव।
गर्भस्य पातनं चैवेत्य पराधा दशैव तु ।। नारद, स्मृ0 चं0 2 पृ0 28

[54] कात्या0 स्मृ0 चं0 3 पृ0 28

[55] एपीग्रे0 इन्डिया जिल्द 15 पृ0 310

[56] गुप्त अभिलेख सं0 39, पृ0 179

[57] एपी0 इण्डिया 0 जिल्द 3, पृ0 53

[58] भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्त्यात्कर्म यथोदितम।
स दण्डयः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ।। मनु0 8.215

[59] गृहीतवेतनः कर्म व्यजन् द्विगणामावहेत्।
अगृहीतं सम दात्यो भृत्यैर्रक्ष्य उपस्करः ।। याज्ञ0 2.193

बृहस्पति और नारद के अनुसार साहस अपराध तीन प्रकार का होता है – 1. प्रथम साहस 2. मध्यम साहस 3. उत्तम साहस । प्रथम साहस अपराध के अन्तर्गत कृषि को नष्ट–भृष्ट करना , तोड़ना , कुचलना तथा गाली देना , द्वितीय साहस के अन्तर्गत वस्त्रों ,बर्तनों को नष्ट करना तथा तृतीय साहस के अन्तर्गत हत्या , बलात्कार आदि आते हैं।[60] साहस अपराध की प्रेरणा देने वाले व्यक्ति को साहसिक से दोगुना दण्ड़ तथा प्रलोभन द्वारा हत्या या बलात्कार करवाने वाले व्यक्ति को चार गुना दण्ड़ देना चाहिये।[61] नारद , मनु तथा याज्ञवलक्य के मत से सामान्य वस्तु के बलपूर्वक अपरहण को साहस कहते हैं। उसे वस्तु के मूल्य से दुगुना दण्ड़ मिलना चाहिये तथा अपराध अस्वीकार करने पर चार गुना अधिक दण्ड़ देना चाहिये।[62] मनु के अनुसार हत्यारोपी ब्राह्मण के राज्य से निष्कासित कर देना चाहिये । मनु तथा विष्णु ने राज्य के सप्तांगो की अवहेलना करने वाले , नकली राज्यानुशासन बनाने वाले , स्त्री हत्या या बहन की हत्या करने वाले को प्राणदण्ड़ का निर्देश दिया है।[63] बृहस्पति तथा व्यास ने किसी भी वर्ण द्वारा ब्रह्म हत्या करने पर अपराधी को मृत्युदण्ड़ देने का विधान बताया है।

याज्ञवलक्य ने साहस अपराधों के अन्तर्गत इन अपराधों को भी सम्मिलित किया है – विधवा स्त्री के साथ बलात्कार , चाण्ड़ाल द्वारा ब्राह्मण का स्पर्श , झूठी शपथ लेना , वर्ण से निम्न व्यापार करना , बैल तथा बकरे को बधिया करने वाला , सामान्य वस्तु को दबा देने वाला , दासों का गर्भपात करने वाला , पिता ,पुत्र , बहन , भाई , पति ,पत्नी ,आचार्य और शिष्य के निर्दोष होने पर भी उनका त्याग करने वाला आदि । मनु के अनुसार इन अपराधियों की सौ पाण से दण्ड़ित करें।[64] याज्ञवलक्य ने कम तौलने या बटखरों से छेड़छाड़ करने वालों को तथा नकली सिक्कों को असली कहने वालों को भी उत्तम साहस से दण्ड़ित करने को कहा है।[65] कम जानकार व्यक्ति पशुओं की चिकित्सा करें तो प्रथम साहस से तथा मनुष्यों की चिकित्सा करे तो उत्तम साहस से दण्ड़ित

---

[60] नारद0 17.3–6
[61] याज्ञ0 2.231
[62] ना0 17.1 , मनु0 8.332 , याज्ञ0 2.230
[63] मनु0 9.232 ,
[64] मनु0 9.234–237
[65] याज्ञ0 2.240 , 241

होता है।[66] वस्तुओं में मिलावट करने वाले अपराधी को सोलह पाण से दण्ड़ित किया जाता था। नकली वस्तुओं को असली बताकर बेचने पर वस्तु के मूल्य से सौ गुना अधिक दण्ड़ दिया जाता था।[67]

मनु ने आततायी अपराध की परिभाषा इस प्रकार दी है – जो व्यक्ति तलवार उठाये हुए , विष तथा अग्नि लिये हुए , तन्त्र–मन्त्र से मारने वाला , राजा की चुगली करने वाला , स्त्री–धन का अपहरण करने वाला , तथा छिद्रान्वेषी हो।[68] आततायी बनकर गुरू , ब्राह्मण ,बालकादि भी आयें तो मार ड़ालना चाहिए।[69] ब्राह्मण हत्यारा ,शराब पीने वाला , स्वर्ण चुराने वाला , गुरू पत्नी के साथ भोग करने वाला आदि तथा इनके साथ रहने वाले महापातकी अपराधी माने जाते हैं।[70] बृहस्पति तथा मनु के अनुसार इस प्रकार के आततायी अपराधी को आते हुए देखकर मार ड़ालना चाहिये तथा राजा को मित्रता व धन के लालच के कारण इन्हे छोड़ना नहीं चाहिये अपितु कठोर दण्ड़ देना चाहिये।[71]

किसी वस्तु का अपरहण कर भाग जाना स्तेय या चोरी करना कहलाता है।[72] चोरी करना अपराध है तथा किसी भी व्यक्ति पर संदेह होने पर उसे दण्ड़ित किया जा सकता है।[73] यह अपराध साधारण , मध्यम और गम्भीर तीन प्रकार का होता है।[74] गौतम तथा नारद के मत से चोर न तो अन्तरिक्ष से , न स्वर्ग से , न समुद्र से और न दूसरे अगम्य स्थान से आता है । इसलिये राजा को चाहिये कि जिस प्रकार हो सके उस प्रकार से चोर का पता लगावे , यदि चोर न मिले तो अपने घर से चोरी के बराबर धन , धन के मालिक को दे दे । नहीं देने पर वह धर्म तथा धन से हीन हो जायेगा।[75]

---

66 याज्ञ0 2.242
67 याज्ञ0 2.247–248
68 मनु0 8.24–25
69 गुरू वा बालवृद्ध वा ब्राहमण्यं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिन भायान्त हन्यादेवाविचारयन् ।। मनु0 8.350
70 याज्ञ0 3.220
71 मनु0 8.347 , 350 बृ0 23.17
72 मनु0 8.332
73 याज्ञ0 2.266
74 ना0 17.13–16
75 गौ0 –10 , अ0 2 ना0 14.27–29

मनु ने चोरों के दो भेद बताये हैं – 1. प्रकाश या प्रत्यक्ष चोर, व 2. अप्रकाश या अप्रत्यक्ष चोर।[76] प्रकाश चोर वे हैं जो लोगों के देखते तौल या नाप में चोरी करते हैं । इसके अन्तर्गत घूसखोर , ठग , जुआरी , झूठा ज्योतिषी , उत्तम सन्यासी का वेश धारण करने वाला , अशिक्षित , हाथीवान , चित्रकार , शिल्पी , वेश्या आदि अपराधी आते हैं।[77] अप्रत्यक्ष चोर वे हैं , जो सेंध लगाकर या जंगल में छिपकर चोरी करते है।[78]

नारद , विष्णु ,गौतम , याज्ञवलक्य तथा मनु ने उच्च वर्ण को चोरी के अपराध में अधिक दण्ड़ की व्यवस्था की है। शूद्र को चोरी पर आठ गुना दण्ड़ तो वैश्य को सोलह , क्षत्रिय को बत्तीस तथा ब्राह्मण को चौसठ या एक अट्ठारह गुना अधिक दण्ड़ की व्यवस्था है।[79] जो व्यक्ति चोरो को शस्त्र , बर्तन , भोजन, अग्नि आदि देते थे उन्हे वध दण्ड़ दिया जाता था।[80] सोना , चांदी , हीरा तथा बहुमूल्य वस्त्र चुराने वर वध दण्ड़ दिया जाता था ।[81] वृहद्विष्णु ने कीमती वस्तु चुराने पर हाथ कटवा देने की व्यवस्था की है।[82] सामान्य वस्तु चुराने जैसे रूई , सूत , दही , गुड़ आदि चुराने पर वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड़ देना पड़ता था।[83] अग्निहोत्र से त्रेत्राग्नि चुराने पर प्रथम साहस से दण्डित किया जाता था।[84] मनु के अनुसार राजा अपराध करता है तो उसे सहस्त्र गुना दण्ड़ से दण्ड़ित किया जाता है , क्योंकि वह अपराध के गुण–दोष को जानकर अपराध करता है।[85] याज्ञवलक्य ने जेबकतरों की तर्जनी और अगूठा काट लेने का विधान किया है।[86] किसी स्त्री ने किसी को अन्न में विष , घर जलाने के लिये अग्नि दी हो , या पति ,गुरू या सन्तान का वध किया हो तो उसके कान , नाक , ओठ काटकर बैलों से मरवा

---

[76] प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चार चक्षुर्महीपतिः ।। मनु0 9.256

[77] मनु0 9.258–260

[78] प्रकाश वञ्चक स्तेषां नाना पर्ण्यापजीविन : ।
प्रच्छन्नवञ्च कस्त्वेरो ये स्तेनाटविकादयः ।। मनु0 9.257

[79] ना0 –परिशि0 51–52 , गौ0 12.12–14

[80] गौ0 12.36–48 , ना0 परि0 13, 14 याज्ञ0 02.276 मनु0 9.271

[81] मनु0 8.321 , 323

[82] वृहद्वि0 –5 अ0 172–73

[83] मनु0 8.326–329

[84] मनु0 8.33

[85] कषर्य पणं भवेददण्डयो यंत्रान्यः प्राकृतोजनः।
तत्र राजा मवेददण्डयः सहस्त्रमिति धारणा त मनु0 8.336

[86] याज्ञ0 2.274

देना चाहिये।[87] दूसरे के खेत की पकी फसल , घर , वन , गांव , बाड़ा , खलिहान , को जला देने या राजपत्नी के साथ व्यभिचार करने वाले मनुष्य को सरहरी में लपेटकर जला देना चाहिये।[88]

याज्ञवलक्य के मत से मिथुनीभाव के लिये किसी पुरूष एवं स्त्री का एक साथ होना संग्रहण नामक अपराध कहलाता है।[89] बृहस्पति ने इस अपराध के तीन प्रकार बताये है – 1. बलपूर्वक 2. छल या प्रपंच द्वारा व 3. काम पिपासा हेतु ।[90] याज्ञवलक्य तथा बृहस्पति के मत से दोनो की सहमति से समान जातीय पुरूष को व्यभिचार करने पर अधिकतम दण्ड , अपने से निम्न जाति के साथ व्यभिचार करने पर उसका आधा दण्ड तथा अपने से उच्च जाति वाली स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर मृत्यु दण्ड मिलता था।[91] यम ने स्त्री की सहमति से हुए व्यभिचार पर जाति से निष्कासित करने का विधान किया है । बृहद् यम तथा यम के मत से माता , गुरू पत्नी , बहिन या पुत्री के साथ व्यभिचार करने पर अग्नि में डाल देने का विधान है।[92] नारद ने प्रवजिता गमन को जघन्य अपराध बताया है।[93] गौतम तथा मनु ने व्यभिचारियों को कुत्तों से नुचवाने को कहा है।[94] याज्ञवलक्य तथा नारद ने किसी के घर में या बाहर रहने वाली दासी के साथ व्यभिचार करने को अपराध कहा है। ऐसा करने पर याज्ञवलक्य ने पचास पणों की दण्ड व्यवस्था की है।[95]

मनु के मत से यदि कोई भय दिखाकर , घर, तालाब ,बगीचा और खेत बलपूर्वक ले ले तो इस पर पांच सौ पणों का दण्ड करे। जो व्यक्ति असावधानी से छीन ले उस पर दो सौ पण का अर्थदण्ड करे।[96] याज्ञवलक्य के कथन से खेत की मेड़ तोड़ने और सीमा को पार करके अधिक जोतने की धमकी देने पर तथा खेत छीन लेने पर क्रमशः

---

[87] याज्ञ0 2.79
[88] याज्ञ0 2.282
[89] याज्ञ0 2.283
[90] अपरार्क पृ0 854
[91] याज्ञ0 2.286
[92] बृहद यम0 03.7 , यम 035
[93] ना0 15.74
[94] गौ0 3.14–15 , मनु0 8.371
[95] याज्ञ0 02.290 , ना0 15.79
[96] मनु0 8.264

अधम , उत्तम और मध्यम साहस से दण्ड़ित करना चाहिए।[97] स्मृतियों से दूसरे को गाली या कटुवचन कहना अपराध माना है। शूद्र यदि ब्राह्मण को कटुवचन कहे तो उसकी जीभ काट कर दण्ड़ित किया जाता था।[98] यदि ब्राह्मण को क्षत्रिय , वैश्य या शूद्र कटु वचन कहें तो क्रमशः सौ पण , एक सौ पचास तथा शूद्र को दो सौ पणों से दण्ड़ित किया जाता था।[99] अंधे को अंधा कहने पर एक पण , ब्रह्म को गाली देने पर पच्चीस पण तथा माता–पिता–गुरू आदि के लिए मार्ग न देने पर सौ पण का विधान था।[100] नारद के अनुसार हाथ ,पैर ,औजार या अन्य वस्तु ठेला आदि से शरीर पर चोट करने या राख आदि से गन्दा करने तथा पीड़ा पहुँचाने वाला अपराधी है। यह दण्ड़पारूष्य प्रथम , मध्यम ,उत्तम भेद से तीन प्रकार का होता है।[101] बृहस्पति तथा याज्ञवलक्य के कथन से भस्म , कीचड़ और धूल किसी पर फेंकने पर दस पण , उच्छिष्ट फेंकने या एड़ी से मारने पर बीस पण , उच्च जाति या स्त्री पर फेंकने पर दुगुने दण्ड़ का विधान है।[102]

मनु के विधानानुसार शूद्र जिस अंग हाथ ,पैर आदि से मारे या मुँह से थूके तो उसके हाथ पैर तथा ओठ कटवा देने चाहिए , क्योंकि यह बहुत बड़ा अपराध है।[103] क्षत्रिय भी जिस अंग से ब्राह्मण को चोट पहुचाए उसका भी वही अंग कटवा देना चाहिए। समान जाति के परस्पर लड़ने पर यदि खून निकल आए तो सौ पण का दण्ड़ , मांस निकल आए तो छः निष्क , हड्ड़ी टूट जाने पर राज्य से निष्कासन का दंड़ दिया जाता था।[104] घायल व्यक्ति की दवाई का रुपया अपराधी व्यक्ति को देना पड़ता था।[105] याज्ञवलक्य के मत से यदि कोई लकड़ी से मारे तो बत्तीस पण , हाथ , पैर ,दाँत तोड़े , कान , नाक काटे , आंख फोड़ दे , चलना , भोजन तथा बोलना रोक दे तो मध्यम

---

[97] याज्ञ0 8.236
[98] मनु0 8.270
[99] मनु0 8.267
[100] याज्ञ0 2.204 , 205 , मनु0 8.274 . 275
[101] ना0 18.4–5
[102] याज्ञ0 2.213 , 214
[103] येन केनचिदंड़.गेन हिस्या च्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः ।
छेतव्यं तत्त्देवास्य तन्मनोरनुशासनम् ।। मनु0 8.279
[104] मनु0 8.284
[105] याज्ञ0 2.222 , मनु0 8.287

साहस से दंड़ित होता था।[106] पशु का लिंग कोई काट ले या पशु को चोट पहुँचाए तो उसे पशु का मूल्य तथा मध्यम साहस का दण्ड़ मिलता था।[107] मनु के कथन से सारथि की असावधानी से मनुष्य मर जाए तो वह अपराधी माना जाता था। उसे एक हजार पणों से दण्ड़ित किया जाता था। तेल का कुप्पा , मिटटी के बर्तन आदि नष्ट हो जाने पर अपराधी को वस्तु का पांच गुना राजा को तथा वस्तु का मूल्य स्वामी को देना पड़ता था।[108] सारथि की असावधानी से शुभ पक्षी तोता , मैना , हंस, सारस मर जाएं तो उसे पचास पण और गधा , बकरी , भेड़ मर जाएं तो पांच मासा , कुत्ता और सुअर मर जाए तो एक मासा चांदी से दण्ड़ित होना पड़ता था।[109] इसके अतिरिक्त कुछ राज्य सम्बन्धी अपराध थे। मनु के मत से राजाज्ञा की अवहेलना कर जो व्यापारी , दुर्भिक्ष आदि में लाभ के लिए खाद्यान्न या गौ आदि का निर्यात करता था उस व्यापारी की पूरी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी ।[110] याज्ञवलक्य ने राजाज्ञा के खिलाफ पकड़े हुए व्यक्ति को छोड़ देने वाले व्यक्ति को उत्तम साहस से दण्ड़ित किया है।[111]

8. दण्ड़ – विधान

गौतम ने 'दण्ड़' शब्दों को 'दम्' धातु से निष्पन्न माना है , जिसका अर्थ रोकना या निवारण लिया है। अपराधों को पुनः होने से रोका जा सके यह भावार्थ है।[112] स्मृतियों से दण्ड़ के विधान पर विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है। स्मृतियों ने विवाद या झगड़ों को अठारह भागों में विभक्त किया है। इन विवादों के लिए तथा अपराधों के लिए विशेष प्रकार की दण्ड़ व्यवस्था है। मनु, याज्ञवलक्य तथा नारद स्मृति ने इस विषय पर विस्तृत प्रकाश ड़ाला है। सम्पूर्ण झगड़ों को व्यवहार के 18 शीर्षकों में से किसी एक के अन्तर्गत रखने का विधान स्मृतियों में है।

---

[106] याज्ञ0 2.218–220
[107] याज्ञ0 2.224–226
[108] मनु0 8.289
[109] मनु0 8.298 , 299
[110] मनु0 8.399
[111] याज्ञ0 2.243
[112] गौतम0 9.28

दण्ड़ विधान का स्वरूप – मनु तथा नारद स्मृति के साथ–साथ बृहस्पतिस्मृति तथा कौटिल्य ने व्यवहार के अठारह पदों का उल्लेख किया है। याज्ञवलक्य स्मृति में अठारह पदों को प्रकरण में विभक्त करके , विशद वर्णन किया गया है । व्यवहार शब्द का अर्थ यहाँ पर मुकदमा या कचहरी में गए हुए झगड़े और न्याय सम्बन्धी विधि से है। वशिष्ठ तथा शंखलिखित के मत से विनिमय में प्रविष्ट होने से सम्बन्धित न्याय अर्थात कानूनी सामर्थ्य व्यवहार का अर्थ किया है।[113] याज्ञवलक्य के मत से यदि कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र और समय के आचार के विरुद्ध ढंग से दूसरों द्वारा पीड़ित होकर राजा से निवेदन करता है , तो वह व्यवहार का विषय माना जाता है।[114] मिताक्षरा ने झगड़े , विवाद या मुकदमें का विषय अर्थ किया है।[115] नारन ने व्यवहार पद के स्थान पर 'विवादपद' का प्रयोग किया है।[116]

मनु ने 18 व्यवहार के स्थानों को निम्न प्रकार से उल्लिखित किया है – 1. ऋणादान – उधार देना , 2. निक्षेप – धरोहर रखना , 3. अस्वामिविक्रय – पर वस्तु को चोरी से बेचना , 4. संभूयसमुत्थान – साझेदारी या एकत्रित होकर वाणिज्य आदि करना । 5. दत्तस्यानपाकर्म– दी हुई वस्तु को ले लेना , 6. वेतनादान–काम करने वालों को मजदूरी न देना ,7. संविद्व्यतिक्रम – प्रतिज्ञा और मर्यादा का उल्लघंन करना , 8. कयविक्रयानुशय – वस्तु को क्रय करके या विक्रय कर स्वीकार न करना 9. स्वामी और पशुपालक का झगड़ा 10. सीमा का झगड़ा , 11. कठोर वचन कहना 12. प्रहार करना 13. चोरी 14. ड़कैती आदि साहस 15. स्त्रीसंग्रहण , 16. स्त्री–पुरूष के धर्म की व्यवस्था 17. दायभाग 18. जुआ और समाह्वय ।[117]

नारदीय मनुस्मृति में अल्प भेद से 18 व्यवहार पद दिए गए हैं और 18 अध्यायों में इनका विशद वर्णन किया गया है। नारदीय मनु के अनुसार 18 व्यवहार पद इस

---

[113] रक्षेद राजा बलानां धनान्यप्राप्त व्यवहाराणाम । शंखलिखित - चन्देश्वर का विवाद रत्नाकर– पृ0 599 वशिष्ठ – 16.28

[114] स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः।
आवैदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ।। याज्ञ0 2.5

[115] व्यवहारः तस्य पदं विषयः । मिता0 याज्ञ0 2.6

[116] ना0 दत्ताप्रदानिक 1. अभ्यपेत्याशुश्रूषा 1 ।

[117] मनु 8.4–7

प्रकार हैं – 1. ऋण लेना 2. उपनिधि (निक्षेप) 3. सम्भूयसमुत्थान 4. दत्ताप्रदानिका 5. अशुश्रुषाभ्युपेत्य – सेवा आदि को स्वीकार करके नहीं करना 7. अस्वामिविक्रय 8. विक्रेयासम्प्रदान – बेच करके न देना 9. क्रीत्वानुशय – वस्तु खरीद के नहीं लेना 10. समयस्यानपाकर्म 11. क्षेत्र विवाद 12. स्त्रीपुंसयोग 13. दायभाग 14. साहस 15. वाक्पारूष्य 16. दण्ड़ापारूष्य 17. द्यूतसमाह्वय 18. प्रकीर्णक।[118] इस प्रकार नारद तथा मनु के 15 विषय समान हैं। नारद ने स्वामिपालविवाद , स्तेय एवं स्त्रीसंग्रहण छोड़कर अभ्युपेत्याशुश्रुषा , प्रकीर्णक को लिया है। कय विकयानुशय को कीतानुशय एवं विकीयासम्प्रदान दो में विभक्त किया है। नारद ने 18 शीर्षकों का उल्लेख किया है।मिताक्षरा ने याज्ञवलक्य में व्यवहार पदों में पति–पत्नी के कर्तव्यों को छोड़कर अभ्युपेत्याशुश्रुषा और प्रकीर्णक को सम्मिलित किया है। कय–विकयनुशय को दो भांगो में कर देने से 20 व्यवहार पद गिनाएं हैं ।[119]

दण्ड़ हेतु विशेष निर्देश – मनु के मत से जिस प्रकार शिकारी मृग के रक्त पद चिन्हों से स्थान को ज्ञात कर लेता है , उसी प्रकार राजा को अनुमानप्रमाण से धर्म के तत्व का निर्णय करना चाहिए।[120] राजा को दण्ड़–विधि में सत्य व्यवहार , व्यक्ति , साक्षी , देश और काल को देखकर निर्णय करना चाहिये। इन निर्णयों में देश , कुल तथा जाति की मान्यताओं को ध्यान में रखना चाहिए।[121] स्त्रियों के मुकदमों में स्त्रियों को , इसी प्रकार द्विज ,शूद्र तथा चाण्ड़ाल के विवादों में कमशः द्विज ,शूद्र तथा चाण्ड़ाल को साक्षी बनाना चाहिए।[122] घर के अन्दर मारपीट में , वन में , घायल तथा हत्या के

[118] ना0 मनु0 1.16–20
[119] मिता0 याज्ञ0 2.5
[120] मनु0 8.44
[121] सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ।। मनु0 8.45
तदेदशकुलजातीनामविरूद्धं प्रकल्पयेत् ।। मनु0 8.46
[122] मनु0 8.68

अभियोग में जिसे उस घटना की जानकारी हो उसको साक्षी बनाना चाहिए।[123] यदि साक्षियों में मतभेद हो तो बहुमत के आधार पर निर्णय करना चाहिए।[124]

दण्ड का महत्व — स्मृतियों में दण्ड की महत्ता का वर्णन विशद रूप में किया गया है । मनु के मत से ईश्वर ने राजा की कार्यसिद्धि जीवों की रक्षा तथा धर्मपुत्र ब्रह्मा के तेज से युक्त दण्ड की सृष्टि की।[125] दण्ड के ही भय से प्रत्येक जड़ चेतन अपने कर्मो को करते हैं । दण्ड राजा है , पुरुष है तथा नेता है।[126] दण्ड ही राज्य को चलाता है , वही प्रजाओं पर शासन तथा उनकी रक्षा करता है। दण्ड सदैव जागता रहता है , यही धर्म रूप है।[127]

दण्ड को शास्त्रानुसार प्रयोग करना चाहिए। धन तथा प्रसाद से प्रयुक्त दण्ड से धन–जन की क्षति होती है । मनु ने दण्डाभाव का चित्रण करते हुए लिखा है कि कौवा याज्ञान्न का भक्षण करता है तथा कुत्ता हविष्यान्न को चाटने लगता है। सबल व्यक्ति दुर्बलों का उसी प्रकार शोषण करने लगते हैं जैसे मछलियों को लोहे की छड़ में छेदकर पकाया जाता है।[128]

मनु का मत है कि संसार में पूर्णतया पवित्र व्यक्ति दुर्लभ हैं। दण्ड ही सबको मार्ग पर लगाता है। दण्ड के भय से ही सभी लोग सुखपूर्वक रह पाते हैं। ईश्वर के दण्ड के भय से इन्द्र , अग्नि ,सूर्य वायु आदि देवता , दानव , गन्धर्व , राक्षस , पक्षी और सर्प अपने–अपने कर्मो में प्रवृत्त होते हैं।[129] मनु के मतानुसार दण्ड का स्वरूप है — श्याम वर्ण तथा लाल नेत्र । जहाँ पर क्रूर दृष्टि दण्ड पापों को भगाती है , वहाँ प्रजां

---

[123] मनु0 8.73
[124] बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराधिपः । मनु0 8.73
[125] तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्मगात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ।। मनु0 7.14
[126] मनु0 7.15 , 17
[127] दण्डाः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।। मनु0 7.18
[128] मनु0 7.19–21
[129] सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभौ हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगदभोगाय कल्पते ।। मनु0 7.22

में अव्यवस्था नहीं फैलने पाती है।[130] दण्ड़ प्रयोगकर्ता को सत्यवादी ,विचारक , बुद्धिमान और धर्म तथा अर्थ का ज्ञाता होना चाहिए। जो राजा दण्ड़ का उचित रीति से प्रयोग करता है , वह धर्म ,अर्थ ,काम इन त्रिवर्गो से समृद्धिशाली होता है। कामी , क्रोधी तथा शूद्र राजा दण्ड़ द्वारा ही नष्ट हो जाते है।[131] दण्ड़ एक भंयकर अस्त्र है , जिसको साधारण व्यक्ति नहीं संभाल सकते । दण्ड़ का अनुचित रूप से प्रयोग राजा तथा उसके परिवार को नष्ट कर देता है। परिवार को नष्ट करके दण्ड़ किला , चराचर , पृथिवी , अन्तरिक्षवासी मुनियों एवं देवों को कष्ट पहुँचाता है।[132] जो निर्मल ह्रदय वाला ,सत्यप्रतिज्ञ ,शास्त्रोचित व्यवहार वाला , अच्छे मित्र वाला तथा बुद्धिमान राजा अपने राज्य में न्यायानुसार दण्ड़ प्रयोग करता है उस ऐश्वर्यहीन का भी यश पानी में तेल की बूंद के सदृश फैल जाता है।[133] इसके विपरीत अन्यायी राजा की कीर्ति जल में घृत की बूंद के सदृश घट जाती है।[134] याज्ञवलक्य ने दण्ड़ को साक्षात् धर्म कहा है जिसका निर्माण ब्रह्मा ने किया।[135] इसका प्रयोग पापियों पर करना चाहिए। जो राजा शास्त्रानुसार दण्ड़नीय तथा हत्यारों को दंड़ित करता है , वह अधिक यज्ञों के पुण्य को प्राप्त करता है।[136] इस प्रकार राजा देवता और मनुष्यों सहित संसार को प्रसन्न करता है। इससे राजा को स्वर्ग , यश तथा विजय प्राप्त होती है। दण्ड़ के विपरीत प्रयोग से देवता आदि क्रूद्ध होते हैं तथा स्वर्ग , कीर्ति और उत्तम लोक का विनाश होता है।[137]

विष्णु स्मृति ने भी दण्ड़ के विषय में उपयोगी निर्देश दिए है। विष्णु का कथन है कि अपराध के अनुसार ही दण्ड़नीय को दण्ड़ दिया जाए। दण्ड़ व्यवस्था में कोई त्रुटि नहीं करनी चाहिए। किसी का भी दूसरा अपराध क्षमा नहीं करना चाहिए। कोई भी

---

[130] मनु0 7.25

[131] मनु0 7.26 , 27

[132] दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ।। मनु0 7.28 , 29

[133] मनु0 7.31–33

[134] मनु0 7.34

[135] धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ।। याज्ञ0 1.354

[136] यो दण्डयान् दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत् ।
इष्टं स्यात् कतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः ।। याज्ञ0 1.359

[137] याज्ञ0 1.356–357

व्यक्ति जो धर्मानुकूल कार्य नहीं करता है , दण्ड़नीय है। कोई भी दण्ड़ व्यवस्था से मुक्त नहीं है। दण्ड़ व्यवस्था के ठीक रहने से प्रजा की समृद्धि होती है। राजा के लिए निर्देश है कि वह मुस्कुराते हुए बोले , फांसी का आदेश देते समय वह मुंह पर विकार न आने दें।[138]

बृहत्पराशर का कथन है कि देश , काल , आयु ,शरीर पर विचार करते हुए अपराधी को दण्ड़ दे।[139] राज्य की सुव्यवस्था के लिए दण्ड़ व्यवस्था अनिवार्य है। इससे राजा अशान्ति का विनाश करता है। जो नृप लोभ के कारण अन्यायपूर्वक प्रजा का शोषण करता है , वह प्रजा की कोपाग्नि में भस्म हो जाता है।[140] वृद्धहारीत स्मृति का कथन है कि न्यायपूर्वक दण्ड़ देने से राजा का यश चतुर्दिक फैलता है। जो नृप निरपराधियों को दण्ड़ तथा अपराधियों को दण्ड़ नहीं देता है , वह सर्वदा अपयश का पात्र होता है।[141] मनु, याज्ञवलक्य तथा वृद्धहारीत के मतानुसार दण्ड़ देते समय देश ,व्यक्ति ,काल आयु ,कर्म आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए।[142] राजा न्यायपूर्वक दण्ड़ व्यवस्था नहीं करता है तो सारे पाप उसे ही भोगना पड़ता है। दण्ड़ का उचित प्रयोग राष्ट्र को सुख देता है तथा अनुचित प्रयोग हानिकारक होता है।[143]

9. दण्ड़ के प्रकार –

मनु , याज्ञवलक्य , बृहस्पति और वृद्धहारीत आदि स्मृतियों में दण्ड़ को चार प्रकारों में विभक्त किया गया है –

1. वाग्दण्ड़ 2. धिग्दण्ड़ 3. अर्थ दण्ड़ 4. वध दण्ड़।[144]

1. **वाग्दण्ड़** :– बाग्दण्ड़ में अपराधी की भर्त्सना की जाती है तथा उसे ड़ाँटा–फटकारा जाता है। उससे पूछा जाता है कि तुमने यह अधर्म कार्य क्यों

---

138 विष्णु0 अ0 3
139 बृ0 परा0 12.80–81
140 वृ0 परा0 12.80–81
141 बृ0 हारीत0 4.185–186
142 ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्डयेषु पातयेत् ।। याज्ञ0 1.368
143 राजा राष्ट्रकृतं पापमिति धर्मविदो विदुः ।। बृ0 हारी0 4.181
144 मनु0 8.129 , याज्ञ0 1.367 , बृह0 1.91 , बृ0हा0 4.187

किया ? इसके विपरीत गुरू , पुरोहित एवं पुत्र को फटकारा नहीं जाता है। ये अपराधी काम , क्रोध , लोभ मोह के क्षणिक आवेश में आकर अपराध कर जाते है । मनु ने इन्ही अपराधियों को सुधारने के लिए वाग्दण्ड़ का विधान किया है। प्रधानतः इस तरह के अपराधियों को यह दण्ड़ ही पर्याप्त है। मनु ने कहा है कि सबसे पहले वाग्दण्ड़ का ही प्रयोग करना चाहिए। इसके असफल होने पर अन्य प्रकारों को व्यवहार में लाना चाहिए।[145]

2. **धिग्दण्ड़** :– वाग्दण्ड़ से अपराधी भयभीत न हो और अपराध कर्मो का त्याग न करें , तो उसे धिक्कारना चाहिए। धिक्कारते समय उससे कहना चाहिए कि तुम्हारे कार्य और जीवन को धिक्कार है। बृहस्पति का कथन है कि इन दो विधियों को ब्राह्मण न्यायाधीश कार्यान्वित करता था। अर्थदण्ड़ तथा शारीरिक दण्ड़ राजा के अधिकार में था।
3. **अर्थदण्ड़** – जब अपराधी पर वाग् तथा धिक् दोनों दण्ड़ विफल हो जाते थे , तो उस पर अर्थ दण्ड़ लगाये जो । यह अर्थ दण्ड़ अपराध के अनुसार लगाया जाता था। छोटे अपराध पर 10 पण तथा बड़े अपराध पर पूरी सम्पत्ति तक जब्त हो जाती थी।
4. **वध–दण्ड़** – मनु का कथन है कि जब अपराधी इतना अधिक धृष्ट हो कि वह अन्य दण्ड़ से वश में न आए तो उसे एक साथ चारो प्राकर के दण्ड़ देने चाहिए।[146] मनु का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण वध के योग्य अपराध करता है तो उसको फांसी नहीं देनी चाहिए अपितु उसका सिर मुंड़ाकर देश से निकाल दें।[147] गौतम तथा बौधायन ने ऐसी स्थिति में ब्राह्मण के माथे पर तप्त लोहे से दाग लगाने का विधान किया है।[148] नारद के मत से ब्राह्मण को देश से

---

[145] वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदन्तरम् । मनु0 8.129।

[146] वाग्दंड प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ।। मनु0 8.129

[147] न जातु ब्राह्मण हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ।। मनु0 8.380

[148] गौ0 अ0 12 , बौधा0 1.10 , 18–19

निकालने से पूर्व उसे गधे पर बैठाकर राज्य में घुमाना चाहिए।[149] हत्या ,बलात्कार साहस करने वाले अपराधियों को अंग छेदन का या वध का दण्ड़ मिलता था।

याज्ञवलक्य का कथन है कि इन चारों दण्ड़ों का अपराधानुसार पृथक–पृथक या एक साथ प्रयोग करना चाहिए।[150] मनु का कथन है कि जब अपराधी ताड़न व छेदन से वश में नहीं आए तो चारों प्रकार के दण्ड़ों को एक साथ प्रयुक्त करके दण्ड़ित करें।[151]

मनु के दण्ड़ सिद्धान्त से पता चलता है कि जिस तरह उसने अपराध किया हो , उसी प्रकार उसको दण्ड़ दिया जाता था। जिस अंग से अपराध किया जाता था वही अंग काटने या छेदन करने का विधान था। हाथ से मारने पर अपराधी का हाथ तथा पैर से मारने पर अपराधी का पैर कटवा दिया जाता थां।[152] इसी प्रकार बलात्कार आदि अपराधों में लिंगच्छेदन का वर्णन भी प्राप्त होता है। यह सब सिद्धान्त बदले की भावना को दृष्टिगत करता है। यह सिद्धान्त शूद्र पर पूर्णतया लागू होता था। ब्राह्मण पर ये नियम लागू नहीं होते थे। भयंकर अपराधों में ब्राह्मण को देश निकाला तथा अर्थदण्ड़ दिया जाता था। ये सब दण्ड़ काफी कठोर प्रतीत होते हैं , परन्तु यह दण्ड़ की अन्तिम अवस्था थी। इन दण्ड़ों का उद्देश्य था कि अपराधी पुनः इन अपराधों को करने में प्रवृत्त न हो।

मनु का कथन है कि अपराधी के अपराध को देखकर उसका परीक्षण करना चाहिए। कहीं अपराध की पुनरावृत्ति तो नहीं हुई है। राजा को निर्देश दिया गया है कि वह दुबारा किए हुए अपराध में देश ,ग्राम , वन ,समय ,अपराधी की शारीरिक तथा आर्थिक स्थिति देखकर अपराध की गुरुता तथा लघुता को अच्छी तरह विचार करके

---

[149] ना0 मनु0 विवाद पद 14. 8–9

[150] धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा।
योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यदराधवाशादिये ।। याज्ञ0 1.367

[151] वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुंजीत चतुष्टम् ।। मनु0 8.130

[152] येन केनचिदडगेन हिस्याच्चेच्छेष्ठमन्त्यजः
छेतव्यं वत्तेदेवास्य तन्मनोनशासनम् ।। मनु0 8.279

दण्ड़नीय व्यक्ति को दण्ड़ित करें।[153] याज्ञवलक्य के मत से राजा अपराध , देश ,समय ,शक्ति ,आयु, कार्य और अर्थ (धन) का पता करके दण्ड़नीय को दण्ड़ित करें।[154] इन दण्ड़ विधान के नियमों के अन्तर्गत राजा बंधा हुआ था । उसको सम्पूर्ण नियम मानने पड़ते थे। अगर वह वाग्दण्ड़ आदि क्रम से दण्ड़ नहीं देता , तो वह अपने यश और कीर्ति को नष्ट करने के साथ धर्म के द्वारा अर्जित स्वर्ग को भी नष्ट कर देता था।[155]

दण्ड़ विधान की व्यवस्था :—

नारदीय मनु का विधान है कि शास्त्रोक्त विधि द्वारा ही दण्ड़ विधान की व्यवस्था करना चाहिए। यदि शास्त्रीय विधि द्वारा दण्ड़ नहीं दिया जाता है तो चतुर्दिक् अव्यवस्था फैलती है।[156] मनु का विधान है कि जिसने जितना अपराध किया हो तथा उसके कार्य से मानव तथा पशु को जितना कष्ट पहुँचा हो , उसको उसी अपराध के समान दण्ड़ देना चाहिए।[157] मनु ने राजा को निर्देश दिया है कि उसके लिए कोई भी अदण्ड़नीय नहीं है। चाहे वह पिता , आचार्य , मित्र , माता , पत्नी ,पुत्र या पुरोहित कोई भी हो।[158] जो अपनी मर्यादा का पालन नहीं करता , उसे दण्ड़ मिलना चाहिए। याज्ञवलक्य का विधान है कि जो राजा दण्ड़नीयों को दण्ड़ देता है और हत्यारों का विनाश करता है , वह महायज्ञों का पुण्य प्राप्त करता है।[159] राजा के लिए सभी व्यक्ति दण्ड़नीय हैं। चाहे वह भ्राता , पुत्र ,आचार्य ,श्वसुर , मामा या माता ही क्यों न हों । राजा का कर्तव्य है कि वह दण्ड़ की उचित व्यवस्था करके सभी वर्णो ,व्यापारियों ,शिल्पियों एवं पशु विक्रेता आदि गणों को ठीक मार्ग पर रखें।[160] इस कारण यदि राजा शास्त्रानुसार दण्ड़ देता है ,

---

[153] मनु0 8.126

[154] ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्डयेषु पातयेत्।। याज्ञ0 1.368

[155] मनु0 8.127

[156] सीदन्ति हि प्रमाणानि प्रमाणैरव्यस्थितैः । ना0 मनु0 1.64

[157] यथा यथा महद् दु:ख दण्डं कुर्यात्तथा तथा ।। मनु0 8.286

[158] नादण्डयो नाम राजोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति । मनु0 8.335

[159] याज्ञ0 1.359 ।

[160] याज्ञ0 1.358 , 361

8. अधर्मदण्डनं स्वर्गकीर्तिलोकविनाशनम् ।
सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः स्वर्गकीर्ति—जयावहम् ।। याज्ञ0 1.357

तो उसे स्वर्ग , यश और विजय प्राप्त होती है । यदि वह अन्यायपूर्वक दण्ड़ देता है , तो उसकी कीर्ति तथा परलोक का विनाश हो जाता है।[161]

दण्ड़ का उद्देश्य:– स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित दण्ड़ विधान के प्रमुखतः दो प्रकार के उद्देश्य लक्षित होते है । प्रथम उद्देश्य था कि अपराधी पुनः अपराध कर्म में प्रवृत्त न हो तथा द्वितीय उद्देश्य था कि अपराधी की प्रसुप्त अन्तःचेतना को जागृत किया जाए , जिससे वह चैतन्य हो जाए। इन दोनों उद्देश्यों का लक्ष्य था कि समाज में अपराधों की कमी हो । नारद का कथन है कि मानव स्वभाव से अपराधी प्रवृति का व्यक्ति नही है। व्यक्ति अपराध उस समय करता है , जब उसकी अंतश्चेतना में चैतन्य मस्तिष्क , काम , क्रोध ,लोभ , मोह से युक्त हो जाता है। दण्ड़ के अप्रत्यक्ष प्रभाव से व्यक्ति की इच्छा में तथा मनोभावों में परिवर्तन आ जाता है। यह प्रथम उद्देश्य का प्रथम प्रकार है, का द्वितीय प्रभाव प्रत्यक्ष है"। जब व्यक्ति समाज में रहकर स्वेच्छा से अपराध करता है तो ऐसी स्थिति में वह अपने कर्तव्य पथ से च्युत हो जाता है । तब वह अधिकारों से वंचित हो जाता है। इस दण्ड़ का प्रभाव समाज के अन्य जनमानस पर पड़ता है।

2. बाह्य शत्रु और उनका शमन :– बाह्य शत्रु के रूप में अन्य राज्य होते हैं जो निहित स्वार्थो , जिन्हें आज राष्ट्रीय हित कहा जाता है के चलते संगठित रूप से राज्य पर आकमण करते थे। राजा को ऐसे शत्रुओं से राज्य की सुरक्षा के लिये सैन्य बल की आवश्यकता होती थी । वेदों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में सेना का संगठन , संचालन , युद्ध क्रिया ,अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग , युद्ध में शत्रुओं का संहार और विजय प्राप्ति आदि से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। इससे ज्ञात होता है वैदिक ऋषि तथा प्राचीन भारतीय शास्त्रकार राष्ट्र सुरक्षा , सेना की आवश्यकता , सेना का प्रशिक्षण ,शस्त्रास्त्रों का निर्माण आदि के प्रति भी जागरूक थे। इन्द्र के लिये कहा गया है कि उसने सैकड़ो सेनाओं को एक साथ जीता।[162] आशु , 'शिशान' , यह सूक्त चारों

---

[162] शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । ऋ.ग0 10.103.1 , यजु0 17.33 , अथर्व0 19.32.2 , साम 1849

वेदों में आया है। इसमें कहा गया है कि इन्द्र के पास योद्धा सैनिकों का गण है।[163] इन्द्र के पास तापस दिव्य अस्त्र है। जिससे शत्रुओं को मूर्च्छित कर देता है।[164] इन्द्र की सेना सदा विजयी हो ।[165] एक भी शत्रु को जीवित मत छोड़ो।[166] शत्रुओं की सेना को सहस्त्रो प्रकार से नष्ट कर दो ।[167] इन्द्र शत्रु सेना को मूर्च्छित कर दे और वह पराजित होकर लौट जावे।[168]

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों ने राज्य की सुरक्षा को महत्व दिया है और इस उद्देश्य से संगठित सैन्य बल की आवश्यकता पर बल दिया है । इन्द्र ने सैकड़ों सेनाओं को एक साथ जीता , इससे स्पष्ट होता है कि शत्रु अपनी सेना को अनेक भागों में विभक्त करके आक्रमण करते थे। साथ ही अनेक शत्रु संगठित होकर भी राजा पर आक्रमण करते थे। अतः राजा का कर्तव्य होता था कि वह इन सभी शत्रुओं से सदा सावधान रहे तथा इनसे राज्य की सुरक्षा के उपाय करें।

स्मृतियों में भी राजा को बाह्य आक्रमण के प्रति सचेत रहते हुए राज्य की सुरक्षा के लिये निर्देश दिया गया है कि मनु का कथन है कि प्रजा पालक राजा का कर्तव्य है कि उसके समान या न्यून शक्ति वाला शत्रु राजा युद्ध के लिये ललकारे तो वह अपने क्षात्र धर्म से पीछे नहीं हटे । युद्ध करना क्षत्रियों का धर्म है इस बात को उसे सदैव स्मरण रखना चाहिये। जो राजा पराक्रम से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त होते हैं , वे अवश्य ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। राजा को युद्ध से भयभीत होकर भागना नहीं चाहिये।[169]

स्मृतियों तथा अन्य ग्रन्थों में धार्मिक युद्धों में लड़ते हुए प्राणोत्सर्ग करने वाले योद्धाओं को वीर तथा पुण्य लोकों को प्राप्त होने वाला बताया गया है। पराशर स्मृति के अनुसार जगत में दो पुरूष सूर्यमण्ड़ल को भेदकर ऊपर जाते हैं , पहला योगमुक्त

---

163 स युध इन्द्रो गणेन । ऋग् 10.103.3
164 अन्धेना मित्रास्तमसां सचन्ताम् । ऋग0 10.103.12
165 दुश्च्यवनः पृतनाषाऽयुध्यः । ऋग0 10.3.7
166 मामीषां कं चनोच्छिषः । यजु0 17.45
167 यथा हनाम सेना अमित्राणां सहत्रश :। अ0 8.8.1
168 इन्द्रः सेनां मोहयतु .....पुनरे तु पराजिता । अ0 3.1.6
169 मनु0 7.87–89

सन्यासी तथा दूसरा लड़ते हुए मरने वाला मनुष्य।[170] जो योद्धा कातर वचन नहीं बोलते , वे मरने पर अक्षय लोक को प्राप्त होते हैं। जो योद्धा भागती हुई सेना के रक्षार्थ जाते है वे यज्ञ करने का पुण्य प्राप्त करते हैं।[171] हजारो देव कन्याये अपना पति बनाने हेतु मृतवीर योद्धाओं के सम्मुख शीघ्र जाती हैं।[172] बहुत तप और यज्ञ करके जिस लोक को ब्राह्मण प्राप्त करते है , उसे युद्ध स्थल में मृत योद्धा क्षणमात्र में ही प्राप्त कर लेता है।[173] पराशर स्मृति का कहना है कि युद्ध में विजयी होने पर लक्ष्मी हस्तगत होती है और मरने पर अप्सरा प्राप्त होती है।[174]

इन विचारों का वर्णन श्रीमद् भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भी हुआ है। श्री कृष्ण अर्जुन को उत्साहित करते हुए कहते हैं कि यदि युद्ध में मर जाओगें तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और यदि विजय प्राप्त करोगे तो पृथ्वी का सुख भोग करोगें , इसलिये युद्ध के लिये सन्नद्ध हों।[175]

याज्ञवलक्य स्मृति का कथन है कि जो राजा युद्ध में विषैले आयुधों का प्रयोग नहीं करता और युद्ध करते हुए प्राण न्योछावर कर देता है , वह योगियों के समान स्वर्ग में निवास करता है।[176] इस प्रकार धर्म युद्ध का उल्लंघन करने वाला क्षत्रिय क्षत्रियत्व से च्युत माना जाता था । इस बात का निहितार्थ यह है कि राष्ट्र की सुरक्षा में प्रवृत्त राजा धर्मानुसार ही शत्रु से युद्ध करे।

धर्मयुद्ध के नियम :— स्मृतियों में वर्णित धर्मयुद्ध के नियम प्राचीन भारतीय संस्कृति की झलक का प्रदर्शन करते है। युद्ध के नियमों का वर्णन रामायण , महाभारत ,शुकनीतिसार तथा अर्थशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। इन सबके विवरण में एक

---

[170] परा0 3.32
[171] परा0 3.33 ,34
[172] परा0 3.37
[173] परा0 3.38
[174] जितेन लम्यते लक्ष्मीर्मृतनापि सुराङ्गना ।
क्षण ध्वासिनि कायेऽस्मिन्का चिन्ता मरणेरणे ।। परा0 3.39
[175] श्रीमद् भगवद्गीता अ0 2—37
[176] य आहवेषु बध्यन्ते भूम्यर्थ पराङ0मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्ग योगिनो यथा।। याज्ञ0 1.324

आश्चर्यजनक समानता दिखायी देती है जो तत्कालीन सभ्यता तथा संस्कृति का द्योतक है।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में युद्ध सम्बन्धी विधियाँ तीन प्रकार की है। 1. भूमि युद्ध 2. जल युद्ध (समुद्री युद्ध) 3. वायु युद्ध । वायु युद्ध आधुनिक काल की वैज्ञानिक प्रगति और आविष्कार की देन है। प्राचीन काल में प्रमुख रूप से स्थल युद्धों का ही प्रचलन था । बड़ी नदी अथवा समुद्रवर्ती राज्य जल सेना रखते थे ,किन्तु जल युद्ध का प्रचलन नहीं था। यही कारण है कि स्मृति काल में प्रधानतः स्थल युद्ध से सम्बन्धित नियम ही प्राप्त होते हैं , स्मृतियों में युद्ध के अनेक नियमों का उल्लेख मिलता है – युद्ध के लिये सन्नद्ध योद्धा से ही युद्ध करना चाहिये। शस्त्र तथा वाहन से रहित तथा युद्ध करने में असमर्थ व्यक्ति पर प्रहार करना धर्मयुद्ध के नियमों के विपरीत है तथा मनु का विधान है कि कूट शस्त्रों से ,कांटे के आकार के फलक लगे हुए बाण से तथा तप्त बाणों से मारना वर्जित है। इस प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों से क्रूरता तथा नृशंसता का प्रदर्शन होता है।[177]

अस्त्र–शस्त्रों के नियमों के अतिरिक्त कुछ नियम ऐसे थे , जो मनुष्यों से सम्बन्धित थे। मनु के अनुसार रथहीन व्यक्ति जो भूमि पर स्थित हो , उसका वध नहीं करना चाहिये। इस प्रकार दोनों हाथ जोड़े हुए व्यक्ति को जिसके बाल बिखरे हुए हों तथा जो युद्ध का त्याग कर चुका हो , जो हाथ जोड़कर शरण में आया हुआ शत्रु हो , नपुंसक हो , ऐसे व्यक्ति को रण स्थल में नहीं मारना चाहिये।[178] जो व्यक्ति सो रहा हो ,कवच से रहित हो , आयुधों से रहित हो तथा युद्ध स्थल का परित्याग किया हुआ हो तथा जो दर्शक हो उस पर प्रहार करना वर्जित था। जो योद्धा किसी अन्य योद्धा से युद्ध में तल्लीन हो , उस पर छिप कर प्रहार करने पर निषेध था।[179] इन नियमों की पुष्टि याज्ञवलक्य स्मृति द्वारा भी की गई है । याज्ञवलक्य के अनुसार शरणागत ,

---

[177] न कूटैरायुधैर्हन्याद् युध्यमानों रणे रिपून ।
न कार्णिमिर्नापि दिग्धे नाग्निज्वलिततेजनै ।। मनु0 7.90

[178] मनु0 7.91

[179] मनु0 7.92

नपुंसक ,शस्त्रहीन , अन्य के साथ युद्ध में तल्लीन , संग्राम से भागते हुए और दर्शक को मारना निषिद्ध है।[180] गौतम का कथन है कि युद्ध में हिंसा का दोष नहीं लगता , किन्तु घोड़े ,सारिथि या आयुध से विहीन योद्धा , हाथ जोड़े हुए ,केश खुले हुए ,मुख फेरकर बैठे हुए या वृक्ष पर चढे हुए वीर , दूत या अपने को ब्राह्मण कहने वाले व्यक्ति को मारने पर मारने वाला दोष का भागी होता है।[181] बौधायन धर्मसूत्र ने विषाक्त बाणों से मारने को धर्मयुद्ध के नियमों के विपरीत बताया है। मनु के अनुसार आयुध टूटे हुए योद्धा को , पुत्र शोक से दुःखी ,घायल , युद्ध से भयभीत तथा पलायन कर रहे व्यक्तियों को नहीं मांरना चाहिये।[182]

इस प्रकार तत्कालीन समाज में धर्मयुद्ध को महत्व दिया जाता था। कौटिल्य भी इससे सहमत हैं।[183] युद्ध का उद्देश्य धर्म के अनुसार ही विजय प्राप्त करना था। "यतो धर्मस्ततो जयः" अर्थात जिधर धर्म होगा , उधर विजय होगी के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त थी । इसी कारण युद्धों को धर्मयुद्ध कहा जाता था। वीरता का प्रदर्शन करते हुए नियमानुसार शत्रु को परास्त करना धर्मयुद्ध माना जाता था।

सेना एवं सेनापति :— स्मृतियों ने राज्य के सात अंगो में एक अंग दण्ड़ को माना है और इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में दिया गया है। दण्ड़ राज्य की सर्वोच्च शक्ति का प्रतीक है , जिसे आधुनिक काल में सम्प्रभुता , प्रभुता या प्रभुसत्ता कहा गया है। यह अमूर्त है। इसका मूर्त रूप बल अथवा सेना है। दण्ड़ (शक्ति) प्रच्छन्न है और बल (सेना) उसका प्रकट रूप है। इसके अभाव में राज्य व राजा द्वारा अपने कर्तव्यों का सम्पादन संभव नहीं है। सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी सेनापति होता था।

सेना के अंग — कौटिल्य और शुक्रनीति ने सेना के चार अंगो का उल्लेखकिया है , अतः सेना को चतुरंगिणी कहा है। सेना के चार अंग है — पदाति (पैदल सेना) , अश्व

---

[180] याज्ञ0 1.326
[181] गौतम 10.2
[182] मनु0 7.93
[183] अर्थ0 वा0 68 , अ0 4.16

(घोड़े) , गज (हाथी) , और रथ।[184] शुक्रनीतिसार ने इनका अनुपात दिया है कि अश्वारोही से चौगुनी पैदल सेना , अश्वारोही से चतुर्थांश हाथी , हाथी से आधे रथ और रथ से दुगने बृहन्नालीक (ताप) रखें।[185] मनु ने राजा का अपना बल छः प्रकार का बताया है।[186] महाभारत ने रथ सेना , हाथी ,अश्वारोही , नाविक , पैदल , चर ,विष्ट और ड़पदेशक से युक्त सेना के आठ प्रकारों का वर्णन किया है।[187]

मनु का कथन है कि सेना को समतल स्थल पर रथों और अश्वों द्वारा युद्ध करना चाहिये। जल युक्त स्थानों पर हाथी और नौकाओं द्वारा, वृक्षलताओं से युक्त भूमि पर धनुष द्वारा, कष्टकादि –रहित भूमि पर खड्ग चर्मादि अस्त्र–शस्त्रों द्वारा युद्ध करना चाहिये ।[188]

सेना के अधिकारी :– स्मृतियों में सेना के दो ही पदाधिकारियों का वर्णन प्राप्त होता है – सेनापति और बलाध्यक्ष ।

सेनापति – वेदों में सेनापति के लिये सेनानी शब्द आया है । सेनापति सेना के सबसे बड़े समूह का नेता होता था।[189] उसी के नेतृत्व में युद्ध होता था। इन्द्र को देव सेना का सेनापति कहा गया है और उसे सैकड़ो युद्धो का विजेता बताया गया है।[190]

सेनापति के गुण और कार्यों के विषय में कौटिल्य और शुक्र ने विस्तृत प्रकाश ड़ाला है। सेनापति के विषय में कौटिल्य का कथन है कि वह हर प्रकार के युद्ध करने , हथियार चलाने और विविध शास्त्रों में पारंगत होना चाहिये। हाथी , घोड़े और रथ चलाने की पूरी योग्यता रखता हो और चतुररंगिणी सेना के कार्य और प्रयोग का ज्ञाता हो। इसके अतिरिक्त वह अपनी सेना की शक्ति ,युद्धकाल , शत्रु सेना की शक्ति , व्यूह

---

[184] चतुरंग बलो ययात् । कौ0 अर्थ0 पृ0 729
[185] शुक्रनीति 4.7.19–20
[186] पड्विधं च बलं स्वकम् । मनु0 7.185
[187] शान्ति पर्व0 41.59
[188] स्यन्दन्दनाश्वैः समै युध्येद नूपे नौद्विञ पैस्तथा ।
वृक्ष गुल्मावृते न्यापैर सिचर्मायुधैः स्थले ।। मनु0 7.192
[189] यो सेनानी र्महतो गणस्य । ऋग0 10.34.12
[190] शतसेना अजयत् साकमिन्द्रः । ऋग0 10.103

रचना और शत्रू व्यूह तोड़ना दुर्ग तोड़ना , सेना का संचालन , उचित समय पर युद्ध के लिये प्रस्थान करना आदि कार्यो का ज्ञाता हो ।[191]

शुक्र का कहना है कि राजा इन गुणों से युक्त व्यक्ति को सेना का अध्यक्ष बनाये जो नीतिशास्त्र ,शस्त्र–अस्त्र संचालन , व्यूह रचना , राजनीतिशास्त्र आदि में पण्ड़ित हो , युवा ,शूरवीर , हष्ट–पुष्ट ,क्षात्रधर्म से तत्पर , स्वामिभक्त और शत्रु संहारक हो । किसी भी जाति का व्यक्ति ,अपनी योग्यता के आधार पर , सेना का अध्यक्ष हो सकता है । वह क्षत्रियों , वैश्य , शूद्र ,म्लेच्छ या वर्णसंकर किसी भी जाति का हो सकता है। ये ही गुण सैनिकों में भी होने चाहिये।[192] शुक्र ने एक बात पर विशेष बल दिया है कि सेनापति के पद पर शूरवीर की ही नियुक्ति होनी चाहिये।[193]

मनु के मतानुसार सेनापति के अधिकार में राज्य की सम्पूर्ण सेना रहती थी । यह अधिकारी मंत्रिपरिषद का सदस्य भी होता था। मनु ने कहीं–कहीं सेनापति के लिये अमात्य शब्द का प्रयोग किया है। मनु के अनुसार अमात्य के अधीन दण्ड़ या सेना होती थी।[194]

2. बलाध्यक्ष – सेनापति के अधीन जो छः प्रकार की सेना होती थी उनमें से प्रत्येक प्रकार की सेना का एक अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था , जिसे बलाध्यक्ष के नाम से जाना जाता था। एक सेना में कई बलाध्यक्ष होते थे । मनु ने राजा को निर्देश दिया है कि युद्ध के समय सेनापति और बलाध्यक्ष चतुर्दिक फैले होने चाहिए। इस प्रकार चतुर्दिक फैलकर उन्हे चारो ओर की वस्तु–स्थिति का ज्ञान करते रहना चाहिये।[195]

रथारोहियों , नागारोहियों ,अश्वारोहियों ,नाविक सेना एवं पैदल सेना में पृथक–पृथक अध्यक्षों के अधीन सैनिकों की अनेक टुकड़ियां होती थीं । मनु ने इन टुकड़ियों को 'गुल्म' नाम से अभिहित किया है। गुल्म के अधिकारी का नामोल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार राजा को सेनापति तथा बलाध्यक्ष को चारो दिशाओं में फैलाकर

---

191 कौटिल्य अर्थ0 पृ0 293–294

192 शुक्र 0 2.135–136

193 सेनापतिः शूर एव योज्यः सर्वासु जातिषु ।। शुक्र0 2.413

194 अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनायिकी किया ।। मनु0 7.65

195 सेनापति बलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् । मनु0 7.189

नियुक्त करना चाहिए तथा जिस दिशा की ओर से भय की आशंका हो , उस दिशा को पूर्व दिशा मानकर उसी ओर प्रयाण करना चाहिये।[196]

युद्ध एवं उसके नियम – वर्तमान काल में राष्ट्रीय विवादों का निपटारा करने की दो मुख्य रीतियाँ है –

1. शान्तिपूर्ण उपाय (Peaceful Methods)
2. बाध्यकारी उपाय (Coercive Methods)

प्रथम के अन्तर्गत वार्ता , मध्यस्थता , संराधन , पंचनिर्णय , न्यायिक निर्णय आदि आते हैं। दूसरे के अन्तर्गत प्रतिकार , प्रतिशोध , हस्तक्षेप आदि रीतियाँ है।

मनु का स्पष्ट कथन है कि जहां तक संभव हो शत्रुओं को साम ,दाम, दण्ड , भेद से जीतने का प्रयास करना चाहिये । इनकी असफलता की दशा में अप्रत्यक्ष (शीतयुद्ध) युद्ध का सहारा लेना चाहिये क्योंकि प्रत्यक्ष युद्ध का परिणाम अनिश्चित होता है। अनिवार्य होने पर आत्मरक्षार्थ धर्मपूर्वक युद्ध करना चाहिये। कामन्दकीय नीतिसार में युद्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गई है -- युद्ध में दोनों पक्ष एक दूसरे को क्षति पहुँचाने के लक्ष्य से कार्य में प्रवृत्त होते है।[197]

युद्ध को विवाद का अन्तिम उपाय माना गया है , किन्तु धर्म और लोक रक्षार्थ अथवा अन्याय और दमन के लिये युद्ध से मुख मोड़ना अत्यन्त निन्दनीय भी कहा गया है। स्मृतियों में मानवीय बाहुबल पर आश्रित क्षात्र धर्म 'युद्ध' को सभी धर्मों से श्रेष्ठ बताया है, क्योकि युद्ध में एक ओर विजयी होकर क्षत्रिय भौतिक सुखों के उपयोग की कामना पूर्ति करता है तो दूसरी ओर युद्ध में वीरगति प्राप्त करने पर उसे स्वर्ग में स्थान मिलता है और वह स्वर्गीय सुखों का उपयोग करता है।

अस्त्र–शस्त्र – प्राचीन भारत में धनुष ,बाण , तलवार आदि युद्ध के आयुध प्रयुक्त होते थे। युद्ध में प्रयुक्त होने वाले हथियारों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है –

---

[196] यतश्च भयमाश ङ0केत् प्राचो तांकल्पयेद् दिशम् । मनु0 7.189
[197] कामन्दक0 10

1.अस्त्र – जिन्हे फेंककर प्रहार किया जाता है तथा जिन्हें मन्त्र ,यन्त्र और अग्नि से चलाया जाता है।

2. शस्त्र – जिसे हाथ में लिये हुए प्रहार किया जाता है जैसे तलवार , गदा व भाला आदि ।

इन दोनो प्रकार के हथियारों में प्रथम आक्रमणकारी प्रकृति का था तो दूसरा रक्षात्मक प्रकृति का। शस्त्रास्त्रों का विस्तृत विवरण प्राचीन भारतीय महाकाब्यों तथा राजशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है। मनुस्मृति में रथ और घोड़ों से समतल भूमि पर , नाव तथा हाथियों से जलीय भूमि पर युद्ध करने का वर्णन है । झाड़ियों वाले स्थान पर धनुष बाण , ढाल और तलवार आदि से युद्ध करने का उल्लेख है।[198] याज्ञवलक्य का कथन है कि राजा को विषैले आयुधों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।[199] इस प्रकार धर्मयुद्ध का नियमन करने वाले आचार्यो ने अस्त्र शस्त्र प्रयोग की स्थितियां ,समय और मर्यादाओं की चर्चा की है।

युद्ध का समय – मनुस्मृति में युद्ध के लिये प्रयाण का समय तथा मौसम का भी उल्लेख है। राजा को शुभ माघ ,फागुन तथा चैत्रमास में शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए।[200] इस समय के अतिरिक्त अन्य कालों में जब राजा अपनी विजय सुनिश्चित समझे और शत्रु पक्ष को व्यसन में लीन समझे , उस समय शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिये।[201] मनु ने राजा को एक और उपयुक्त समय बताया है कि जब राजा अपनी सेना को प्रसन्नता से व्याप्त और सुदृढ़ समझे और इसके विपरीत शत्रु राजा तथा मंत्रियों में फूट पड़ गई हो तथा उसकी स्थिति दुर्बल समझे , तब युद्ध करके शत्रु को परास्त कर देना चाहिये।[202]

---

[198] मनु0 7.192
199ण याज्ञ0 1.324
200. मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपति :।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वासौ प्रति यथाबलम् ।। मनु0 7 182

[201] मनु0 7.183
[202] मनु0 7.171

सेना का प्रस्थान – मनु ने युद्ध के लिये प्रयाण करती हुई सेना के विषय में अपना विचार व्यक्त किया है कि –राजा को अपने पुर और राष्ट्र की भली–भांति रक्षा की व्यवस्था करके , यात्रा अर्थात युद्ध की सम्पूर्ण सामग्री का उचित प्रबन्ध करना चाहिए । सम , विषम और जलीय मार्गों में गुप्तचरों को नियुक्त करके रथ , अश्व , हस्ती , पैदल , सेना ,एवं कार्यकर्ता इन छः प्रकार के बलों को लेकर युद्ध के नियमानुसार शत्रु के नगर की ओर प्रस्थान करना चाहिये।[203]

ब्यूह रचना – सेना को समयानुसार एंव मार्ग के प्रकार को देखकर तथा युद्धस्थल में विभिन्न प्रकार से सुनियोजित करने को व्यूह रचना कहते हैं। व्यूह के विषय में मनुस्मृति में उल्लेख है । ब्यूह में सेना को रखने से पक्ष का कम तथा प्रतिपक्ष की अधिक हानि होती है। सेना का प्रस्थान भी ब्यूह का निर्माण करके करना चाहिये। मनु के अनुसार ब्यूह छः प्रकार के होते है।[204]

1. दण्ड़ व्यूह 2. शकट व्यूह 3. वराह व्यूह 4. मकर व्यूह 5. सूची व्यूह 6. गरूड़ व्यूह

1. **दण्ड़ व्यूह** :– दण्ड़ के आकार का व्यूह "दण्ड़ व्यूह " कहलाता है। इसमें सबसे आगे अध्यक्षों सहित सेना , मध्य में राजा तथा पीछे सेनापति और दोनो पार्श्वों में हाथी रहते हैं। हाथी के पश्चात घोड़े , तत्पश्चात पैदल सेना व्यवारिथत की जाती है। इस प्रकार से व्यवस्थित करने पर इसका आकार विस्तृत हो जाता है , जिससे वह दण्ड़ का आकार ले लेता है । जब चारो दिशाओं से भय की आशंका हो तो उस समय दण्ड़ व्यूह का निर्माण करके प्रमाण करना चाहिये।
2. **शंकट व्यूह** :– इसका आकार अग्रभाग में पतला तथा पीछे की ओर फैला टुकड़ा होता है। इस प्रकार यह व्यूह गाड़ी के समान प्रतीत होती है। जब पीछे से आक्रमण का भय हो , उसे समय शंकट व्यूह की रचना करनी चाहिए।

---

[203] मनु0 7.184–185

[204] दण्ड ब्यूहेन तन्मार्ग यायात्तु शकटेनवा।
वराह मकराभ्यां वा सूच्या वा गरूडेन वा । मनु0 7 187

3. **वराह व्यूह** :– इस व्यूह में आगे तथा पीछे का भाग पतला होता है। मध्य भाग विस्तार से फैला हुआ होता हैं। दायें और बायें ओर से भय रहने पर इसकी रचना करनी चाहिये।
4. **मकर व्यूह** :– इसकी रचना वराह व्यूह के विपरीत होती है । सामने तथा पीछे का भाग पृथुल होता है तथा मध्य भाग पतला होता है । सामने तथा पीछे से भय रहने पर मकर व्यूह में चलना चाहिये।
5. **सूची व्यूह** :– इस व्यूह के निर्माण में सेना का चारो ओर से विस्तार किया जाता है। जिससे देखने में यह चीटियों की पंक्ति के समान प्रतीत होता है। जब सामने की ओर से आक्रमण का भय प्रतीत हो तब सूची व्यूह का निर्माण करना चाहिये । जिस तरफ से अधिक भय की आंशका हो उस ओर सेना का अधिक विस्तार कर देना चाहिये। इस सूची व्यूह में राजा स्वयं को मध्य में रखता है। यदि कम योद्धा हो तो उन्हे संगठित करना चाहिये । यदि सैन्य दल अधिक हो तो उसे विस्तार में फैला देना चाहिये। तीनो ओर से सेना का विस्तार करने के कारण यह वर्ज व्यूह भी कहलाता है। कुछ की धारणा है कि राजा को पुर से निकल कर कपटपूर्ण वेश में रहना चाहिये और शत्रु के राज्य में प्रवेश करना चाहिये।[205]
6. **गरूड़ व्यूह** :– इसकी रचना वराह व्यूह के समान होती है किन्तु इसके मध्य भाग की रचना बहुत विस्तृत होती है। जब दाहिनी तथा बायीं ओर से भय हो तब गरूड़ व्यूह की रचना करना लाभप्रद होता है।

युद्ध का संचालन :– युद्ध स्थल पर राजा को किस प्रकार सेना का संचालन करना चाहिये , इस विषय में मनु स्मृति में विस्तृत सामग्री उपलब्ध है। मनु ने राजा को निर्देश दिया है कि उसे युद्ध स्थल में सेना को दो भागों में विभक्त कर देना चाहिये । इस दो जत्थों के दो सेनापति अलग–अलग नियुक्त करके विभिन्न दिशाओं में स्थित करना चाहिये। ये सेनापति आप्त पुरूष होने चाहिये। दोनो भागों के नाम रख देने

---

[205] मनु0 7.188 , 191

चाहिये , जिससे सुविधापूर्वक आदेश दिया जा सके ।[206] ये सैनिक युद्ध करने में विश्वासपात्र ,शंख , भेरी , नगाड़ा आदि वाद्यों के सांकेतिक , रूकनें में तथा युद्ध में चतुर और कभी विकृत नहीं होने वाले होने चाहिए । इनसे शत्रु की चेष्टा का भी ज्ञान करते रहना चाहिये। यदि सेना कम हो तो संगठित होकर और विशाल हो तो उन्हे सूची व्यूह में फैलाकर युद्ध करना श्रेष्ठ है।[207]

मनु ने कुछ स्थान विशेष के सैनिकों को वीर पुरूष माना है। मनु ने कहा है कि कुरूक्षेत्र , मत्स्य , पांचाल और शूरसेन देश में उत्पन्न योद्धा ऊँचे कद के होते हैं । इन देशों के योद्धाओं को तथा अन्य क्षेत्रों के युद्धाभिमानी योद्धाओं को जो छोटे कद के होते है ,उन्हे रणक्षेत्र में आगे की पक्ति पर नियुक्त करना चाहिये।[208] इन योद्धओं को रण के मध्य में उत्साहित करते रहना चाहिये। उन्हे स्मरण कराते रहना चाहिये कि युद्ध में विजयी होने पर धन और धर्म की तथा मृत्यु होने पर स्वर्ग की प्राप्ति होगी तथा युद्ध स्थल से भागने पर योद्धा राजा के कोप का भागी तथा नारकीय होगा और उसका अपयश होगा। इस प्रकार उनका उत्साहवर्धन करते हुए सैनिकों की चेष्टाओं को भी समझते रहना चाहिये कि सैनिक कपटपूर्ण या निष्कपट होकर युद्ध कर रहे है।[209]

मनु का विधान है कि शत्रु को दुर्बल बनाने के लिये उसका कर्षण तथा उत्पीड़न करना चाहिये। मनु का मत है कि राजा को इस प्रकार शत्रु को निर्बल बना देना चाहिये , जिससे युद्ध के समय उसे पर्याप्त सहायता न मिल सके। इस नीति से शत्रु राजा शीघ्र ही परास्त हो जायेगा। वह नीति इस प्रकार है – राजा को शत्रु राष्ट्र को घेरकर पड़ाव ड़ाल देना चाहिये ,शत्रु राजा के भूसा ,घास,अन्न ,जल ईधन को पूर्णतया नष्ट कर देना चाहिये , अन्नादि खाद्य वस्तुओं में विष मिलवा देना चाहिये , जिससे वह खाने योग्य नहीं रह जाए।[210] शत्रु के तालाब ,नहर, कुओं आदि को नष्ट करवा देना चाहिये।

---

[206] मनु0 7.190

[207] मनु0 7.191

[208] कुरूक्षेत्रांश्य मत्स्यांश्च पंवालांशूरसेन जान् ।
दीर्घाल्ल घुंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ।। मनु0 7.193

[209] प्रहष्येद्बलं व्यूहय बाश्च सम्यक् परीक्षयेत ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयातमपि ।। मनु0 7.194

[210] मनु0 7.195

किले की प्राचीर तोड़वा देना चाहिये । खाई को मिट्टी ड़लवाकर समतल कर देना चाहिये। इस प्रकार विजगीषु राजा निश्चिंत हो जायेगा। रात्रि में नगाड़ा आदि युद्धों के वाद्यों को बजवाना चाहिये , जिससे शत्रु अत्याधिक भयाकुल हो जाय।[211] राजा को चाहिये कि शत्रु पक्ष के राज्य लोभी मंत्री आदि को लालच देकर पक्ष में कर ले तथा उनसे शत्रु की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करता रहे। इस प्रकार उचित समय तथा मुहुर्त में शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिए।[212]

सुरक्षा हेतु दुर्गो की व्यवस्था :— प्राचीन एवं मध्यकालीन सुरक्षा व्यवस्था में दुर्गों का विशेष महत्व होता था । प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने इस महत्व को स्वीकार करते हुए राजा को दुर्गों के निर्माण का निर्देश दिया है । मनु का कथन है कि जिस प्रकार दुर्ग में रहने वाले मृगादि को बहेलिया नहीं मार सकता , उसी प्रकार दुर्ग में रहने वाले राजा को शत्रु नहीं मार सकते हैं। इस प्रकार राजा शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है।[213]

कुल्लूक का मत है कि राजधानी पर शत्रु का आधिपत्य नहीं होना चाहिये। यदि राज्य के कुछ क्षेत्र जीत भी ले तो उतनी हानि नहीं होती किन्तु यदि राजधानी पर शत्रु अधिकार कर ले तो गम्भीर संकट उत्पन्न हो जाता है क्योंकि सम्पूर्ण राष्ट्र की भोजन सामग्री वहीं एकत्र रहती है। साथ ही सैन्य बल भी वही सुरक्षित रहता है। दुर्ग शासन का केन्द्र है । याज्ञवलक्य दुर्ग बनाने का हेतु बताते हैं कि परिजन , कोश एवं अपनी रक्षा के लिये राजा को दुर्ग बनाना चाहिये।[214]

मनु ने दुर्ग का महत्व स्पष्ट करते हुए कहा है कि किले में रहकर एक योद्धा शत्रु के सौ योद्धाओं तथा सौ योद्धा दस हजार योद्धाओं को मार सकते है।[215] मनु स्मृति में छः प्रकार के दुर्गों का उल्लेख आया है।[216]

---

[211] भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकार परिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चन रात्रों वित्रासयेत्तथा।। मनु0 7.196

[212] मनु0 7.197

[213] तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्ग समाश्रितम् ।। मनु0 7.73

[214] तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जन कोशात्मगुप्तये । याज्ञ0 1.321

[215] एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।

1. **थान्वदुर्ग** :– इस दुर्ग के चारो ओर पांच योजन या बीस कोस तक पानी तथा वृक्ष–घास आदि नहीं होने चाहिये। बीस कोस तक चारों और रेतीली भूमि होनी चाहिये।
2. **महीदुर्ग** :– इसके चारो ओर ईंट पत्थर युक्त जमीन होनी चाहिये। ऊँची–नीची जमीन होनी चाहिये तथा युद्ध के लिये अयोग्य होनी चाहिये । यह दुर्ग पत्थर की चाहरदीवारी से घिरा होना चाहिये तथा उसमें झरोखे होने चाहिए।
3. **जल दुर्ग** :– इसके चारो ओर विस्तार में तथा गहराई में जल फैला देना चाहिये।
4. **वृक्ष दुर्ग** :– वृक्ष दुर्ग उसे कहते हैं जिसके चारो ओर चार कोस तक बड़े महावृक्ष ,कँटीली झाड़ियाँ तथा लताएं हों । नदी तथा नाले कठिनाई से पार करने वाले हों।
5. **नृदुर्ग (मनुष्य दुर्ग)** :– इसके चारो ओर हाथी , घोड़ा, रथ तथा पदाति सेना व्यवस्थित होनी चाहिए ।
6. **गिरि दुर्ग** :– यह दुर्ग ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहां पहुचना दुष्कर हो , रास्ता छोटा हो जिससे प्रवेश करने में परेशानी का सामना करना पड़े । नदी , झरने तथा पहाड़ों से युक्त होना चाहिये।

मनु ने गिरि दुर्ग को सर्वोत्तम बताया है क्योंकि इसमें बहुत गुण है। प्राचीन काल में गिरि दुर्ग को बहुत अधिक महत्व दिया जाता था। मनु ने राजा को गिरि दुर्ग में निवास करने को कहा है क्योकि यह दुर्ग महान गुणों से युक्त तथा श्रेष्ठ होता है

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरि दुर्ग समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरि दुर्ग विशिष्यते ।।[217]

शतं दशसहस्त्राणि तस्माद् दुर्ग विधीयते ।। मनु0 7.74

[216] धन्वदुर्ग महीदुर्गमबूदुर्ग वाक्षमैव।
नृदुर्ग गिरिदुर्ग वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ।। मनु0 7.70

[217] मनु0 07.71

पंचम – अध्याय

स्त्रियों के अधिकार

स्त्रियों के अधिकार

भारतीय समाज में स्त्रियाँ प्रारंभ से ही पूजनीय रही हैं । यहाँ स्त्री को मात्र भोग का साधन नहीं अपितु परिवार का हेतु माना गया है । स्मृतियों में भी स्त्रियों की प्रतिष्ठा के बहुशः विधान प्राप्त होते हैं । मनु का कथन है कि अपना कल्याण चाहने वाले पिता , भाई , पति और देवर को चाहिये कि वे सदा कन्या पूजन करें ।

पितृभिर्भाप्तभिश्चैता : पतिभिर्देववरैस्तथा ।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि : ।।[1]

पुन : यदि व्यक्ति यागादि के द्वारा अदृष्ट फल प्राप्ति की कामना करता है तो उसे भी स्त्री का सम्मान और पूजन करना चाहिये । इस विषय में यह उद्धरण अत्यन्त प्रसिद्ध है कि जहाँ नारियों का सम्मान होता है , वही देवता प्रसन्न होते हैं तथा जहाँ इनकी पूजा नहीं होती वहाँ की समस्त कियायें व्यर्थ हो जाती हैं ।[2] परिवार में स्त्रियों का प्रसन्न होना अत्यन्त आवश्यक होता है जिस भी कुल की स्त्रियां प्रसन्न नहीं रहती हैं वहाँ के सारे कर्म निष्फल होते हैं – '' यत्र पुनरेता न पूज्यन्ते , तत्र देवता प्रसादा भावाद्यागादि क्रियाः सर्वा निष्फला भवन्तीति निन्दार्थवाद : ।[3] जो स्त्री सम्पूर्ण परिवार की देख–रेख करती है , वह यदि दुखी हो तो परिवार में सुख–शान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती । जिस कुल में जामि (स्त्री , पुत्रवधु , बहन , भानजी , कन्यादि) शोक करती हैं , वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुल में ये शोक नहीं करती हैं वह कुल सर्वदा उन्नति करता है ।[4] यहाँ पर जामि शब्द के ऊपर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि जामि संबंध वाचक शब्द है जिसके अन्तर्गत पत्नी ,पुत्री , बहन , भानजी आदि सभी आ जाते हैं ।

---

[1] मनुस्मृति 3.55

[2] यत्रेतास्तु न पूजयन्ते सर्वास्वत्राफला क्रियः ।। मनु0 03.56

[3] मन्वर्थमुक्तावली 3.56

[4] शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तत्र यत्रेता वर्धते तद्धि सर्वदा ।। मनुस्मृति 3.57

" जामि स्वसृकुलस्त्रिय : – इत्याभिधानिका " [5]

इसके अतिरिक्त स्त्रियों के दुखी होने पर कुल के शीघ्र विनाश की बात कही गई है अर्थात व्यक्ति को दैहिक , दैविक और भौतिक तापत्रय प्राप्त होते हैं । विभिन्न क्षेत्रों में मुनष्य परेशान होता है साथ ही दैव , राजा , चोर आदि का कोप भाजन बन कर दुख को प्राप्त मनुष्य कुल का विनाश कर बैठता है – " यास्मिन्कुलै भगिनीगृहपति संबर्धनीय सन्निहित ।

सपिण्ड स्त्रियश्च पत्नी दुहिप्तृस्नुषा द्याः
परितापादिना दुःखिन्यो भवन्ति तत्कुलः शीघ्रं
निर्धनीभवति दैवराजादिना च पीडयते ।[6]

स्मृतियों में स्त्री की प्रतिष्ठा पूजा व सम्मान से सम्बद्ध उक्त उद्धरण स्पष्ट रूप से इस बात की ओर संकेत करते हैं कि स्मृति कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति प्रतिष्ठा परक तथा पूजनीय थी और उनकी इस स्थिति के संरक्षण और प्रतिरक्षण के उद्देश्य से समाज से उन्हें कुछ अधिकार भी प्राप्त थे जिन्हें हम अधोलिखित वर्गों में वर्गीकृत कर सकते है –

1. रक्षा का अधिकार – प्रायः यह माना जाता है कि शारीरिक रूप से स्त्रियां पुरूषों की अपेक्षा दुर्बल तथा कोमल होती हैं , अतः पति के द्वारा ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज के द्वारा स्त्री रक्षा का प्रयत्न होना चाहिए । मनु का विचार है कि साधारण प्रसंगो से भी स्त्रियों को विशेष रूप से बचाना चाहिये क्योंकि सुरक्षित स्त्रियाँ दोनो कुलों को सन्तप्त करती हैं –

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्योंः स्त्रियों रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोंः शोकमावहेंयुररक्षिता : ।।[7]

यहां " सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यो " पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसका तात्पर्य यह है कि साधारण से साधारण प्रसंगो अर्थात चीजों से स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिये ।

---

[5] अमरशेषः नानार्थ श्लोक 142
[6] मन्वर्थ मुम्तावली 3.57
[7] मनुस्मृति 9.5

साथ ही रक्षा क्रिया में स्त्रियों को प्राथमिकता भी प्राप्त है , इसलिये स्मृतिकार ने विशेषतः पद का प्रयोग किया है जिसका भाव यह है कि अन्यों की अपेक्षा स्त्रियाँ विशेष रूप से रक्ष्य है । इसके साथ–साथ यह भी ध्यातव्य है कि बड़ी विपत्तियों के उपस्थित होने पर उनकी रक्षा विशेष रूप से होनी चाहिये –

" स्वल्पेभ्योऽपि दुःसङेभ्यों दौशीलसंपादकेभ्यो
विशेषण स्त्रियों रक्षणीयाः किं पुनर्महदभ्यः " ।[8]

इसके अतिरिक्त पत्नी की रक्षा पति का उत्तम धर्म भी है । समस्त वर्णो के इस उत्तम धर्म को देखते हुए दुर्बल से दुर्बल पति भी स्त्री की रक्षा के लिये यत्न करते हैं । अर्थात पति शारीरिक रूप से अस्वस्थ हो या विकलांग हो तो भी वह यत्नपूर्वक पत्नी की रक्षा के लिये प्रयत्न करता है ।[9] क्योंकि स्त्री रक्षा कथित धर्माचरणों में एक उत्तम आचरण है । इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि सभी वर्णो की स्त्रियाँ रक्षणीय हैं – " सर्वेषां ब्राह्मणादि –वर्णान्तनां भार्या रक्षण लक्षणं धर्म वक्ष्य माणश्लोकरीत्या सर्वधर्मेभ्य उत्कृष्टं जानन्तोऽन्घपड़ वादयोऽपि भार्या रक्षिंतु यतेरनं ।।[10]

मनु का यह विचार कि " चतुर्णामापि वर्णानां द्वारा रक्ष्यतमा सदा " [11] भी इस विषय में उल्लेखनीय है।

स्त्रियों की रक्षा को उत्तम धर्म की संज्ञा अकारण ही नहीं दी गई है । स्त्री अपने परिवार की देखभाल करती है अतः पुरूष द्वारा उसकी रक्षा भी आवश्यक है , स्त्री की रक्षा करने पर संतान सुरक्षित होती है तथा संतान के सुरक्षित रहने पर आत्मा सुरक्षित होंती है ।

"भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवन्ति रक्षित :
प्रजाया रक्ष्यमाणयामात्मा भवति रक्षितः ।।[12]

---

[8] मन्वर्थ 9.5
[9] इमं हि सर्ववर्णाना पश्यन्तो धर्मयुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितु मार्या भर्तारो दुर्बला अपि ।। मनुस्मृति 9.6
[10] मनवर्थ 9.6
[11] मनुस्मृति 9.359
[12] मनु स्मृति 9.5.1

इस प्रकार आत्म रक्षा के लिये स्त्रियों की रक्षा करना धर्म ही नहीं बल्कि एक प्रयोजन सिद्धि भी है । इसके अतिरिक्त स्त्री जिस प्रकार से पति की सेवा करती है अतएव उसी प्रकार की संतान को उत्पन्न करती है। स्त्रियों की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये । विशुद्ध संतान की प्राप्ति के लिये स्त्रियों की रक्षा का विधान उचित है ।

" यस्माद यादृशं पुरूषं शास्त्रेण विहितं

प्रतिषिद्ध वा तादृशशास्त्रोक्त पुरूष सेवनेनोत्कृष्टं निषिद्ध – पुरूष सेवनेन च निकृष्टं पुत्र जनयति । तस्माद्पत्यविशुद्धध्यर्थ पत्नी यत्नतो रक्षेत् । [13]

दूषक तत्वों से स्त्री की रक्षा :– सामान्यतः स्त्रियाँ स्वच्छ और शुद्ध मानी जाती है किन्तु स्त्रियों में दोष भी शीघ्र ही उत्पन्न होता है । मनु ने स्त्रियों को दूषित करने वाले छः कारकों पर प्रकाश डाला है । उसके अनुसार मद्यपान , दुर्जन संसर्ग , पति से विरह , व्यर्थ भ्रमण , असमय शयन , दूसरे घर में निवास , स्त्रियों को दूषित करने के छः तत्व है ।[14] तथा ये छः तत्व सुशीला नारी को भी भृष्ट कर देते हैं। स्त्रियों में दोष उत्पन्न होने से परिवार भी दूषित हो जाता है । अतः परिवार के कल्याण हेतु स्त्रियों की इन दोषों से रक्षा आवश्यक है ।

2. दैव पितृ कर्म का अधिकार

आज प्राय : यह बात सर्वत्र प्रचलित है कि प्राचीन काल में स्त्रियों को धार्मिक कृत्य का अधिकार नहीं था । पुरूष ही धर्मादि का अनुष्ठान कर सकता था और स्त्री उसकी अनुगामिनी होने के कारण उस धर्म कर्म का किन्चित फल प्राप्त कर पाती थी । किन्तु शंख स्मृति के अनुसार स्त्रियों को दैव तथा पितृ कर्म का अधिकार प्राप्त था किन्तु रजस्वला नारियाँ यह कृत्य रजोनिवृत्ति के बाद ही कर सकती थीं । शंख के अनुसार स्त्री चौथे दिन स्नान करने के पश्चात पति के लिये शुद्ध हो जाती है और पांचवे दिन वह दैवयज्ञ–कर्म तथा पितृकर्म के लिये शुद्ध होती है ।[15]

---

[13] मन्वर्थ 9.9

[14] पानं दुर्जन संसर्ग : पत्या च विरहोटनम् ।
स्वप्नों ऽन्यगे वासंश्च नारी संदूषणानि षट् ।। मनुस्मृति 9.13

[15] शंख स्मृति 16.16

शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽहिन स्नानेन स्त्री रजस्वला ।

दैवे कर्माणि पित्रयें च पंचमेऽहिन शुद्ध्यति ।।

श्लोक का उत्तरार्द्ध भाग यह सिद्ध करता है कि रजोनिवृत्त के उपरान्त स्त्रियाँ दैव पितृ कर्म का सम्पादन कर सकती थी अर्थात यज्ञहवनादि रूप देव प्रीत के लिये शास्त्रनिर्दिष्ट कमों का संपादन करने के साथ–साथ " पिण्डदान –तर्पणादीनि पित्तकर्मणि " की भी वे अधिकारिणी थी । इस प्रकार यह कल्पना अनुचित होगा कि धर्म–कर्म में स्त्रियों का अधिकार नहीं था ।

3. बलिबैश्व दैव कर्म का अधिकार :–

बलिवैश्वदेव का अर्थ है – देवताओं को पक्वान्न देना । दक्ष का कथन है कि गृहस्थ को अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवताओं , पितरों और मनुष्यों विशेष रूप से दीन अनाथ और तपस्वियों को भी भोजन देना चाहिये ।

वैश्वदेवं तथातिथ्यमुदधृतं चापि शाक्तितः।

दैव–पित्तृ–मनुस्याणां दीनानाथ तपास्विनाम् ।। दक्ष 3 , 8–9

मेघातिथि और लघु व्यास के मत में वैश्वदेव बलि यदि सुरक्षित हो तो गृहाग्नि में नहीं तो लौकिक अग्नि में देनी चाहिये । यदि अग्नि न हो तो इसे जल में या पृथ्वी पर छोड देना चाहिये ।[16] मनु के अनुसार गृहस्थ को विधिपूर्वक देवताओं के उद्‌देश्य से पके अन्न से हवन करना चाहिये ।[17] गौतम के अनुसार बलि वैश्वदेव के देवता अग्नि , धन्वन्तरि , विश्वेदेव , प्रजापति एवं स्विष्टकृत है ।[18] मनु के अनुसार बलि वैश्वदेव के देवता अग्नि , सोम, विश्वेदेव , धन्वन्तरि, कुहू , अनुमति , प्रजापति , द्यावा पृथिवी और स्विष्टकृत अग्नि है ।[19]

---

[16] मेघातिथि – मनु 05 , 7 ल0 व्या0स0 2, 52–53

[17] मनु 3, 84

[18] गौतम 5 , 9

[19] मनु 0 3 ,85–86

लघु आश्वलायन स्मृति के अनुसार संयुक्त परिवार में पिता या ज्येष्ठ भाई , बलि वैश्वदेव करता है किसी प्रकार की असमर्थता में पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता द्वारा आज्ञापित होने पर पुत्र या छोटा भाई भी इसे सम्पादित कर सकता है ।[20]

स्मृतियों ने स्त्रियों को धार्मिक कृत्य करने के पर्याप्त अधिकार दिये हैं , स्त्रियाँ बलि वैश्वकर्म का संपादन कर सकती हैं । मनु के अनुसार स्त्री सायंकाल में सिद्धान्त से बिना मन्त्र–पाठ के ही बलि देवे और प्रातः काल बलि वैश्वदैव का भी यही विधान है ।[21] अर्थात स्त्री के मन्त्र ज्ञान के अभाव की स्थिति में यह एक सामान्य व्यवस्था है कि वह बलि कर्म बिना मन्त्र के भी करें । इससे स्पष्ट है कि स्मृति व्यवस्था के अनुसार पुरूष के साथ–साथ स्त्रियां भी नित्य कर्मों का संपादन करती थीं । गृहस्थ द्वारा संपादित पंच महायज्ञ भी स्त्रियों के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आता था । यह अलग बात है कि कर्म सम्पादन की विधि में थोड़ा सा अन्तर वर्णित है जिसका कारण यह हो सकता है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ गृहकार्य में विशेष रत रहती थीं और सभी स्त्रियाँ पर्याप्त शिक्षित नहीं होती थीं ।

4. पति के प्रत्येक धार्मिक कृत्य पर अधिकार :–

सामान्य रूप से प्रत्येक स्त्री अपने पति के धर्म–कर्म की सहभागिनी होती है । इसका कारण यह बताया गया है कि स्त्री तथा पुरूष की रचना एक दूसरे की आवश्यकता पूर्ति के लिये हुई है तथा एक दूसरे का भागी होना ही स्त्री–पुरूष का श्रेष्ठ धर्म है । मनु के अनुसार गर्भ–ग्रहण के लिये स्त्रियों की तथा गर्भाधान के लिये पुरूषों की सृष्टि हुई है । इस कारण वेद में अग्न्याधानादि साधारण धर्म भी पुरूष का स्त्री के साथ ही कहा गया है ।[22] अर्थात पुरूष द्वारा सम्पादित कोई भी धार्मिक कार्य पत्नी के बिना पूर्ण और सफल नहीं होता है।

---

[20] ला0आश्प 1.117–119

[21] सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवहि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ।। मनुस्मृति 3.121

[22] प्रजनार्थ स्त्रियः सृष्टा सन्तानार्थ च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतों पत्न्या सहोदितः ।। मनुस्मृति 9.96

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वेदोक्त अग्न्याधानादि साधारण से साधारण धर्म भी पत्नी के साथ ही संपादित होना चाहिये । स्पष्टतः स्मृतियों ने पुरूषों के समान अथवा कुछ स्मृतियों ने पुरूषों के समान अथवा कुछ भिन्न रूप में धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान का अधिकार स्त्रियों को प्रदान किया है । इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण यह है कि पति द्वारा सम्पादित समस्त धार्मिक कृत्यों के फल पर पत्नियों का भी अधिकार शास्त्रों में वर्णित है।

5. सम्पत्ति का अधिकार :–

स्मृतियों में स्त्रीधन नामक एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द का प्रयोग मिलता है । इससे सिद्ध होता है कि स्त्री का संबंध धन से अवश्य रहा है । यदि स्त्री धन को षष्ठीतत्पुरूष समास मान लें तो भी स्त्री का धन से संबंध स्वतः सिद्ध हो जाता है । किन्तु स्मृतियों में प्रयुक्त स्त्रीधन का अर्थ है – पिता–माता द्वारा प्रदत्त धन जिसे लेकर कन्या अपने ससुराल जाती है । इसके अतिरिक्त ससुराल में आशीष रूप में प्राप्त धन की गणना भी इसके अन्तर्गत की जाती है , यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या स्त्रियों को पारिवारिक धन का भाग मिलता था अथवा नहीं । इस विषय में याज्ञवलक्य का मत है यदि अपनी इच्छा से पिता सभी पुत्रों को समान अंश देता है तो उसे उन पुत्रियों को भी समान भाग देना चाहिये जिन्हे अपने श्वसुर या पति से स्त्रीधन नहीं मिलता है।[23] जिस स्त्री को पति या श्वसुरादि से स्त्री धन प्राप्त नहीं है उसे दाय में समान अंश मिलना चाहिये । यदि उसे स्त्रीधन मिला है तो समान अंश की वह अधिकारिणी नहीं है । अतः स्पष्ट है कि स्मृतियों में स्त्रीवर्ग के लिये सम्पत्ति का अधिकार स्वीकृत है ।

स्त्रीधन :– स्त्रीधन का शाब्दिक अर्थ है स्त्री की सम्पत्ति मनु के अनुसार स्त्रीधन छः प्रकार का होता है –

1. विवाह काल में अग्नि के समक्ष पिता आदि के द्वारा जो कुछ दिया जाता है ।
2. विदाई के समय जो कुछ दिया जाता है ।

---

[23] यदि कुर्यात्सयानांशान् पत्नयः कार्याः सयांशिका
न दत्तं स्त्रीधनं यास्तं मर्त्रां व श्वसुरेणवा ।। (या0 2.115)

3. स्नेहवश जो कुछ दिया जाता है ।

4. भाई द्वारा जो धन दिया जाता है।

5. माता द्वारा प्रदत्त धन। तथा

6. पिता द्वारा प्रदत्त वस्तुएं ।[24]

मनु ने अन्वाधेय अर्थात बाद में मिलने वाली भेटों को भी स्त्रीधन कहा है।[25]

याज्ञवलक्य के अनुसार पिता , माता , पति या भाई द्वारा प्रदत्त या जो कुछ विवाह अग्नि के समक्ष प्राप्त होता है या पति द्वारा अन्य स्त्री से विवाह के समय जो कुछ प्राप्त होता है तथा जो कुछ स्त्रियों के सम्बन्धियों द्वारा दिया जाता है और शुल्क एवं विवाहोपरान्त प्राप्त भेट स्त्रीधन होते हैं।[26] विष्णु स्मृति का मत है कि अधोलिखित धन स्त्रीधन माने जाते हैं – पिता के द्वारा प्रदत्त , माता द्वारा प्रदत्त , विवाह के समय अग्नि के समक्ष प्रदत्त , अन्य स्त्री से विवाह के समय पति द्वारा प्रदत्त , सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त , शुल्क के रूप में प्राप्त एवं विवाह के उपरान्त पितृकुल और पति कुल से प्राप्त धन ।[27]

नारदीय मनुस्मृति के अनुसार छः प्रकार के धन स्त्रीधन माने जाते हैं –

1. विवाह के समय अग्नि के समक्ष प्राप्त धन,
2. विदाई के समय प्राप्त धन,
3. पति द्वारा प्रदत्त धन,
4. भाइयों द्वारा प्रदत्त धन,
5. माता द्वारा प्रदत्त धन,
6. पिता द्वारा प्रदत्त धन ।[28]

---

[24] अध्यगन्य ध्यावहनिक , दत्तं च प्रीति कर्मणि
भातृ मातृ पितृ प्राप्त , षड्विध स्त्रीधनं स्मृतम् ।। मनु0 9.149

[25] मनु 9, 195

[26] पितृमात्तपतिभृादत्तृमध्यग्न्यपागतम् ।
आधि वेदनिक च , स्त्रीधन परिकीर्तितम् ।। याज्ञ0 1.143–144

[27] पितृमातृ सुतभातृदत्त मध्यग्न्युपागतम् ।
आधि वेदनिकं बन्धु दत्तं शुल्क मन्वाधेयकमिति स्त्रीधन ।। विष्णु 17 , 18

[28] अध्यगन्य ध्यावहनिकं , भर्तृदायस्तथैव च ।
भातृा दत्त पितृभ्यां च षडविधं स्त्रीधनं स्मृतम । ना0मनु0 13 ,8

इस प्रकार मनु , याज्ञवलक्य, विष्णु और नारद के मत में छः प्रकार के स्त्रीधन निम्नवत है :–

1. **अध्यग्नि** :– विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो कुछ दिया जाता है वह अध्यग्नि स्त्रीधन है।[29]
2. **अध्यावहनिक** :– पति के घर जाते समय स्त्री जो कुछ पिता के घर से प्राप्त करती है , वह अध्यावहनिक स्त्रीधन कहलाता है । मिताक्षरा के अनुसार मध्यावहनिक में वे सभी भेटें सम्मिलित हैं , जो विवाहित कन्या को विदाई के समय किसी भी व्यक्ति के द्वारा प्राप्त होती है ।[30]
3. **प्रीति दत्त** :– सास–श्वसुर और श्रेष्ठ जनों से जो कुछ प्राप्त होता है वह प्रीतिदत्त स्त्रीधन कहलाता है। प्रीतिदत्त धन में पैर छूने के समय जो धन प्राप्त होता है , वह भी सम्मिलित होता है।[31]
4. **शुल्क** :– पति कुल से जो धन आदि लेकर कन्या दी जाती है वह शुल्क स्त्रीधन कहलाता है ।[32] व्यास के मत में शुल्क वह धन है जो किसी स्त्री को इसलिये दिया जाता है वह प्रसन्नतापूर्वक पति के घर जाने को प्रेरित हो सके ।[33]
5. **अन्वाधेय** :– विवाहोपरान्त पतिकुल एवं पितृकुल के बन्धुजनों से प्राप्त धन अन्वोधय कहलाता है।[34]

---

[29] विवाह काले यत्स्त्रीभ्यो , दीयते ह्यग्नि सं निधौ ।
तथ्यग्निकृतं सदियः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ।। मिताक्षरा याज्ञ0 2, 143

[30] यत्पुनर्लमते नारी , नीयमाना पितुगृहीत् ।
आध्यावहनिकं नाम , स्त्रीधन तदुदाहृत्तम् ।। मिताक्षरा याज्ञ0 2 , 143

[31] मिताक्षरा , याज्ञव0 2.143

[32] शुल्कं यद गृहीत्वा कन्या दीयते । मिताक्षरा 0 याज्ञ0

[33] यदानेतु भर्त्तगृहे , शुल्कं तत् परिकीर्तितम् । भर्त्त गृह गमनार्थ मुत्कोचादि यद् दत्त तच्च ब्रह्मदिष्व विशिष्टम् ।। मिताक्षरा , याज्ञ0 2.143 पर पाद टिप्पणी

[34] विवाहात्परतो यच्च , लब्ध भर्तृकुलात् स्त्रिया ।
अन्वाधेय तु तद् दृव्यं लब्धं पितृकुलात्तथा । बृह 26.29

6. **सौदायिक** :— विवाहित स्त्री या कुमारी को अपने पति गृह या पितृगृह में जो कुछ मिलता है तथा भाई व माता–पिता से जो प्राप्त होता है वह सौदायिक स्त्रीधन कहलाता है ।[35]

मनु के अनुसार माता का धन उसकी कुमारी कन्या को मिलता है , अतः यौतक स्त्रीधन का द्योतक है ।[36] याज्ञवलक्य के अनुसार विभाजन के समय माता के रूप में या पत्नी या विधवा के रूप में जो कुछ धन वह प्राप्त करती है , वह भी स्त्रीधन के अन्तर्गत आता है ।[37]

स्त्रीधन के आंशिक उत्तराधिकारी :— मूलतः स्त्रीधन पर स्त्री का ही अधिकार होता है , किन्तु याज्ञवलक्य का कथन है कि दुर्भिक्ष , धर्मकार्य , व्याधि में या बन्दी बनाये जाने पर पति यदि स्त्रीधन को व्यय करता है तो उसे वापस लौटाने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता ।[38]

याज्ञवलक्य और विष्णु के अनुसार पति के ऋण पत्नी को नहीं बाँध सकते हैं और न पत्नी के ऋण से पति को अर्थात कोई एक दूसरे के ऋण के लिये उत्तरदायी नहीं है ।[39] मिताक्षरा और मनु के अनुसार यदि पति , पुत्र , माता , या भाई बलात् सम्पत्ति छीन लेता है तो उसे ब्याज के साथ वापस करना पड़ता है अन्यथा वह राजा द्वारा दण्ड का भागी होगा ।[40]

स्त्रीधन के उत्तराधिकारी :— मनु के अनुसार माता का धन उसकी अविवाहित पुत्री प्राप्त करती है ।[41] गौतम के अनुसार स्त्रीधन पहले अविवाहित , पुत्री को फिर निर्धन

---

[35] उठया कन्यया वाऽपि , पत्युः पित्रृ गृहेऽपिवा ।
भ्रातुः सकाशांत् पित्रोर्वा , लब्धं सौदायिक स्मृतम् ।। बृह0 26.29

[36] मातुस्तु यौतकं यत् स्यात्कुमारी भाग एव सः । मनु 9.131

[37] याज्ञ0 2.115 , 123

[38] दुर्भिक्षे धर्म कार्ये च , व्याधों संप्रतिरोधके ।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्त्रा , न स्त्रियै दातु मर्हत ।। याज्ञ0 2.147

[39] याज्ञ0 2.46 , विष्णु 7.29–30

[40] जीवन्तीनां तु तासां ये , तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
तान्छिष्याच्चौर दण्डेन , धार्मिकः पृथवी पति ।। मनु0 8.29 मिताक्षरा , याज्ञ0 147

[41] मातुस्तु यौतक यत् स्यात् कुमारी भाग एवं सः ।। मनु0 9.131

विवाहित पुत्री को बाद में धनवान विवाहित पुत्री को मिलता है ।[42] मनु के अनुसार माता की मृत्यु पर सगे भाई–बहनों को उसका धन समान रूप से बाँट लेना चाहिये। पुत्रियों की पुत्रियों को भी स्नेहानुकूल कुछ भाग मिलना चाहिये । मनु के अनुसार यदि पत्नी पति के रहते मृत्यु को प्राप्त करती है तो उसका अन्वाधेय स्त्रीधन (पतिकुल से प्राप्त धन), पति प्रदत्त , स्नेहदान , आदि धन उसकी सन्तानें ही प्राप्त करती हैं , पति नहीं ।[43]

यदि किसी स्त्री का विवाह ब्राह्म , दैव , आर्ष , गान्धर्व अथवा प्राजापत्य विधि से सम्पन्न हुआ है और वह सन्तानहीन मृत्यु को प्राप्त होती है तो उसका स्त्रीधन पति को प्राप्त होता है । यदि आसुर , राक्षस या पैशाच विधि से हुआ हो तो उस सन्तानहीन स्त्री का धन माता–पिता प्राप्त करते हैं।[44] याज्ञवलक्य के अनुसार माता का धन कन्याएं प्राप्त करती है । उनके न होने पर पुत्रों को मिलता है।[45] याज्ञवलक्य के अनुसार स्त्रीधन कन्याओं को मिलता है । यदि स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो उसका स्त्रीधन पति प्राप्त करता है । यदि विवाह ब्राह्म , दैव , आर्ष , प्राजापत्य विधि से हुआ हो । यदि विवाह आसुर , गान्धर्व , पैशाच अथवा राक्षस विधि से हुआ हो तो माता पिता स्त्रीधन प्राप्त करते है । नारद और विष्णु का भी यही मत है ।[46] नारद का कथन है कि माता का धन कन्याओं में बाटनाँ चाहिये , उनके अभाव में उनकी सन्तानों को मिलना चाहिये।[47] मनु के अनुसार यदि निम्न जाति की स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो उसकी उच्चतर जाति वाली सौतेली पुत्री को धन मिलता है, उसके अभाव में उसका पुत्र प्राप्त करता है।[48]

दायभाग में स्त्रियों का अंश :– वैदिक काल से ही दाय शब्द के प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं । ऋगवेद में 'शतदाय' का अर्थ सायण ने अधिक सम्पत्ति (वसीयत

---

[42] गौतम 29.22
[43] मनु0 9.192–193 , 195
[44] मनु 9.196–197
[45] मातुर्दुहितरः शेष मृणात् साम्य ऋतेऽन्वयः ।। याज्ञ0 2.117
[46] याज्ञ0 2.144–145 , ना0 मनु0 13.9 , विष्णु 17.20–21
[47] पितुर्युपरते पुत्रा , विमजेयुर्धनं पितुः ।
मातुर्दुहित रोऽभावे , दुहितृणां तदन्वयः ।। ना0 मनु0 13.2
[48] मनु0 9.198

) बताया है।[49] तैत्तिरीय संहिता में पैतृक सम्पत्ति के अर्थ में दाय शब्द का प्रयोग मिलता है ।[50] ऋगवेद में दाय के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द रिक्थ है।[51] अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में : दायाद ' शब्द का प्रयोग आया है ।[52] जिसका अर्थ है ' दायम् आदत्ते ' अर्थात जो दाय (पैतृक सम्पत्ति) को लेता है । इस प्रकार पैतृक सम्पत्ति को दाय कहा जाता है और इसे प्राप्त करने के अधिकारियों को दायाद कहा जाता है।

स्मृति चन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में उद्धत स्मृति संगृह के मतानुसार दाय वह धन है जो माता या पिता से किसी को प्राप्त होता है । निघण्टु ने विभाजित होने वाले पैतृक धन को दाय कहा है।[53] दाय भाग शब्द का वास्तवकि अर्थ है सम्बन्धियों यथा पिता , पितामह आदि के धन का सम्बन्धियों यथा पुत्र–पौत्र आदि में विभाजित होना । इस विभाजन का मुख्य कारण है स्वामी से उनका सम्बन्ध । मनु और नारद ने दायभाग के अन्तर्गत माता के धन के विभाजन को भी रखा है ।[54]

मिताक्षरा ने याज्ञवलक्य स्मृति की भूमिका में लिखा है कि दाय का अर्थ है – वह धन जो उसके स्वामी के सम्बन्ध से किसी अन्य की सम्पत्ति हो जाता है।[55] बृहस्पति के अनुसार पिता के द्वारा अपना जो धन पुत्रों को दिया जाता है उसे दाय कहते हैं ।[56] मिताक्षरा ने दाय को दो श्रेणियों में विभक्त किया है – अप्रतिबन्ध एवं सप्रतिबन्ध । अप्रतिबन्ध में पुत्र , पौत्र एवं प्रपौत्र अपने सम्बन्ध से ही अपने पिता , पितामह एवं प्रति पितामह द्वारा आगत वंश परम्परा के धन को प्राप्त करते हैं । इसमें पिता या पितामह की उपस्थिति से पुत्रों एवं पौत्रों की कुल सम्पत्ति के प्रति अभिरूचि में

---

[49] ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् । ऋग0 2.32.4

[50] मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यमजत् । तै0 सं0 3.1.9.4
तस्याज्जेष्ठ पुत्रं धनेन निखसाययन्ति । तै0 सं0 2.5.2.7

[51] न जामये तान्वो रिक्थमारैक । ऋग0 3.31.2

[52] सोमो ह्यस्य दायादः । अथर्व 05.18.6
तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्र या अदायादीः । तै0सं0 4.5.8–2

[53] विभक्तब्यं पितृद्रव्यं , दाय भाहुर्मनीषिणः । निघण्टु स्मृति चन्द्रिका । पृ0 255

[54] ना0मनु0 13.1

[55] तत्र दायशब्देन यद् धनं स्वामिसंबन्धादेव निमित्ताऽदन्यस्य
स्वं भवति तदुच्यते । मिता0 याज्ञ0 2.14

[56] ददाति दीयते पित्रा ,पुत्रेभ्यः स्वस्य यद् धनम् । तद्दायम् । बृह0 26

कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता क्योंकि वे उसी कुल में उत्पन्न हुए हैं । इसी कारण इसे अप्रतिबन्धित दाय कहा गया है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने चाचा की सम्पत्ति प्राप्त करता है या कोई पिता जब अपने पुत्र की सम्पत्ति सन्तानहीन चाचा या सन्तानहीन पुत्र के मृत हो जाने पर पाता है , तो यह सप्रतिबन्धित दाय कहलाता है । क्योंकि इन स्थितियों में भतीजा या पिता क्रम से अपने चाचा या पुत्र की सम्पत्ति पर तब तक स्वामित्व प्राप्त नहीं कर पाता जब तक चाचा या पुत्र जीवित रहता है । या जब तक चाचा या पुत्र का पुत्र जीवित रहता है।[57]

दाय के विवेचन में स्व और स्वामी की भावना निहित रहती है । स्व का अर्थ है – जो किसी का है अर्थात सम्पत्ति । स्वामी का अर्थ है – अधिकारी । अतः स्व और स्वामी शब्द परस्पर सम्बद्ध है । गौतम ने सभी के लिये स्वत्व के पांच उद्गम या साधन बताये हैं । रिक्थ या ऋक्थ (वसीयत) क्रय (खरीदना) , संविभाग (विभाजन) परिग्रह (बलपूर्वक अर्जित सम्पत्ति) एवं अधिगम (अनायास गुप्त धन अथवा कोष पर अधिकार) गौतम ने अतिरिक्त आय के साधनों का भी उल्लेख किया है । ब्राह्मणों को दान प्राप्ति , क्षत्रियों को विजय से लाभ , वैश्यों को कृषि व गोरक्षा आदि से प्राप्त धन तथा शूद्रों को सेवा आदि से प्राप्त धन ।[58]

स्वत्व के विषय में मनु का कथन है कि निम्नलिखित सात धर्मयुक्त उपायों से प्राप्त धन ही स्वत्व होता है

1. सभी वर्णों के लिये दाय (धर्मयुक्त पित्रृ सम्पत्ति का भाग)।
2. लाभ (मूल धन या मित्रादि से प्राप्त)।
3. क्रय (खरीदा हुआ)।
4. क्षत्रिय द्वारा धर्म पूर्वक किये गये युद्ध में विजय से प्राप्त।
5. वैश्य के लिये प्रयोग (ब्याज अर्थात सूद आदि के द्वारा प्राप्त)।
6. कर्मयोग (खेती तथा व्यापार आदि उद्योग करने से प्राप्त धन)।

---

[57] मिता0 याज्ञ0 2.114

[58] स्वामी ऋक्थक्रय संविभाग परिग्रहःधिगमेषु ब्राह्मणस्यधिकं ।
लब्धं क्षत्रियस्य विजितं निर्दिष्टवैश्य शूद्रयों : । गौतम 10.39–42

7. ब्राह्मण के लिये सत्प्रतिगृह (शास्त्रोक्त दान से प्राप्त)।[59]

मनु ने अनुचित साधनों से प्राप्त धन को स्वत्व में शामिल नहीं किया है । ऐसे धन का विभाजन नहीं होगा । ऐसे निन्दित कर्मो से उपार्जित धन के लिये प्रायश्चितों का विधान किया गया है।[60]

विभाग को मिताक्षरा ने इस प्रकार परिभाषित किया है – जहाँ संयुक्त स्वामित्व हो वहाँ सम्पूर्ण सम्पत्ति के भागों की निश्चित व्यवस्था ही विभाग है ।[61] इस प्रकार दाय भाग एवं मिताक्षरा द्वारा उपस्थित विभिन्न परिभाषायें विभिन्न निर्णय देती हैं । मिताक्षरा के अनुसार पिता और पुत्र या पौत्रों का जब संयुक्त परिवार रहता है तो सभी सहभागी (रिक्थाधिकारी) रहते हैं और संसृष्टि सम्पत्ति का स्वत्व सभी समांशियों (रिक्थाधिकारियों) को प्राप्त रहता है , अर्थात जब तक संयुक्त परिवार रहता है तब तक स्वामित्व की एकता रहती है और कोई सहभागी (रिक्थाधिकारी) यह नहीं कह सकता कि वह किसी निश्चित भाग यथा एक चौथाई या पाँचवे भाग का स्वामी है । अंश या सहभागी का अंश या हित घटता–बढता रहता है , मृत्यु (कई सहभागियों की मृत्यु) से बढ सकता है और जन्मों से यह घट भी सकता है । विभाजन के उपरान्त ही सहभागी या अशं हर किसी निश्चित भाग (अंश) का अधिकारी हो पाता है । मिताक्षरा के अनुसार पुत्र पैतृक सम्पत्ति का जन्म से ही रिक्थाधिकारी हो जाता है।[62]

किन्तु पत्नी को दाय भाग में विभाजन की माँग का अधिकार नहीं था । याज्ञवलक्य के अनुसार पिता के रहते पुत्र विभाजन की माँग करते हैं तो पत्नी को भी पुत्र के समान एक भाग मिलता है।[63] यदि कई पत्नियाँ हों तो प्रत्येक को एक पुत्र के बराबर भाग मिलता है। पत्नी या पत्नियाँ श्वसुर द्वारा प्रदत्त स्त्रीधन के भोग का अधिकार नही रखती हैं । यदि पत्नी या पत्नियों के पास स्त्रीधन होगा तो उन्हे उतना

---

[59] मनु0 10.115

[60] मनु0 10.194–195

[61] विभागो नाम द्रव्य समुदायविषयाणामने कस्वाभ्यानांव ।
तदेक देशेषु व्यवस्थापनम् । मिता0 याज्ञ0 2.114

[62] भूर्या पिता महोपात्ता ,निबन्धो द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं , पितु0 पुत्रस्य चैवहि ।। याज्ञ0 2.121

[63] याज्ञ0 2.115

ही धन मिलेगा , जिससे स्त्रीधन और अन्य धन मिलाकर एक पुत्र के धन के बराबर हो जाय ।[64]

मिताक्षरा के अनुसार पत्नी का भी कुल की सम्पत्ति में भाग पति की इच्छा पर निर्भर रहता है , स्वयं की इच्छा पर नहीं । अतः उन्हे विभाजन में समान अंश का उत्तराधिकारी माना है।[65] माता और विमाता भी पिता की मृत्यु के बाद पुत्रों के विभाजन के समय एक भाग पाती है । पुत्रों के संयुक्त रहने पर माता और विमाता विभाजन की मांग नहीं कर सकती हैं । यदि उनके पास स्त्रीधन होगा तो दायभाग भी उसी अनुपात में कम या अधिक मिलेगा ।[66] मिताक्षरा ने इस बात का खण्डन किया है कि माता को केवल जीविका का साधन प्राप्त होना चाहिये।[67] बौधायन के अनुसार स्त्रियाँ शक्तिहीन होती है , इसलिये उन्हे भाग नहीं मिलना चाहिये । मनु का भी यही मत है।[68] इसके विपरीत बृहस्पति का मत है कि यदि एक स्त्री हो तो उसे बराबर का अंश मिलता है । और यदि कई स्त्रियाँ हो तो उनमें सम्पत्ति का बराबर विभाजन करें ।[69] किसी पुरूष के कई पत्नियाँ हो या एक ही पत्नी हो , उसके कई पुत्र हो तो विभाजन पुत्र , पत्नियों एंव माताओं के अनुसार होता है चाहे वे किसी भी माता के पुत्र हों ।गौतम का कथन है कि विभाजन माताओं के पुत्रों के अनुसार होना चाहिये । प्रत्येक माता के ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश मिलना चाहिये ।[70]

बृहस्पति एवं व्यास के अनुसार विभिन्न माताओं से उत्पन्न पुत्रों को माता के अनुसार ही भाग मिलता है। बृहस्पति के अनुसार पितामही और विमाता–पितामही विभाजन का माँग नहीं कर सकती हैं । जब उनके पुत्रों, पौत्रों एंव प्रपौत्रों में विभाजन

---

[64] याज्ञ0 2.148

[65] मिता0 याज्ञ0 2.52 , 2.115

[66] याज्ञ0 2.123 , विष्णु 18.34 , ना0मनु0 13.12

[67] मिता0 याज्ञ0 2.52 , 2.115

[68] बौधा0 2.2.52–53 , मनु0 9.18

[69] बृह0 26.2

[70] गौतम0 29.15

होगा तो उन्हे समान भाग मिलता है। पिता की पुत्रहीन पत्नी या पत्नियों को पुत्र के बराबर भाग मिलता है तथा पितामही को माता के तुल्य ।[71]

स्मृतियों में प्राप्त विविध उल्लेखों से ध्वनित होता है कि स्मृतिकाल में स्त्रियों की स्थिति द्वितीय श्रेणी के नागरिकों जैसी थी । वैदिक काल में स्त्रियों के यज्ञोपवीत और वेदादि शास्त्रों के पठन की व्यवस्था थी , किन्तु स्मृतिकाल में उन्हे यज्ञोपवीत आदि से वंचित कर दिया गया था । स्त्रियों के लिये जिन कार्यो का उल्लेख है वे आर्थिक दृष्टि से सामान्य स्तर के हैं । निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ घरेलू उद्योग–धन्धे करती थीं । अतएव रजकी, चर्मकारी, लुब्धकी और वैणुजीविनी आदि का उल्लेख मिलता है। दाय भाग में भी स्त्रियों को बहुत महत्व नहीं प्राप्त था। अधिकांशतया वे पति की इच्छा से धन और भूमि का उपयोग करती थी तथा भूमि के विक्रय में उनका स्थान गौंण था । स्मृतियों ने कन्याओं , स्त्रियों और विधवाओं के संरक्षण पर अवश्य बल दिया है । उन्हे शिक्षा , आजीविका , कय–विक्रय , साक्ष्य आदि में जितना महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिये था उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला है , स्त्रियाँ यदि कुछ अर्जित करती थी तो उस पर भी पति का अधिकार दर्शाया गया है । इस प्रकार स्मृति काल में स्त्रियों को आर्थिक अधिकार सम्पुष्ट नहीं थी ।

6. शिक्षा का अधिकार :– वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति हर क्षेत्र में उन्नत थी। जिस प्रकार से वैदिक साहित्य में ऋचाओं की रचना करने वाली विदुषी नारियों के उल्लेख मिलते हैं इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में स्त्री शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था भी उन्नत थी । अत्रि कुल की विश्ववारा ने ऋग्वेद का 5–28 सूक्त रचा है। अपाला ने ऋग्वेद का 8–91 और घोषा काक्षीवती ने ऋग्वेद का 10–39 सूक्त रचा है। ऋग्वेद में 21 ऋषिकाओं का उल्लेख है जिनके द्वारा दृष्ट मंत्रो की संख्या सैकड़ों में है , ये मन्त्र अधिकाशतः दशम् मण्डल में हं । इन ऋषिकाओं के नाम है –

1. श्रद्धा कामायनी 2. राची पौलोमी 3. सार्पराज्ञी 4. यमी वैवस्वती
5. देवजामयः इन्द्रमातरः 6. इन्द्राणी 7. शाश्वती आंगिरसी 8.रोमशा बृह्मवादिनी

---

[71] बृह0 26.22–25

9. गोधा ऋषिका 10. उर्वशी 11. सूर्या सावित्री 12.अदिति दाक्षायणी
13. लोपामुद्रा 14. अपाला आत्रेयी 15. नदी ऋषिका 16. घोषा काक्षीवती
17. विश्ववारा आत्रेयी 18. वाक् आम्भृणी 19. जुहू ब्रह्मजाया 20. सरमा ऋजिका
21. यमी

बृहदारण्यक उपनिषद में दो विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है ।[72] याज्ञवलक्य की पत्नी मैत्रेयी ने ब्रह्म विषयक प्रश्न किये हैं । दूसरी विदुषी गार्गी वाचक्नवी ने याज्ञवलक्य से शास्त्रार्थ किया है । उसके प्रश्नो का उत्तर देने में याज्ञवलक्य को भी कठिनाई हुई थी । आश्वलायन गृहसूत्र से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में स्त्री शिक्षिकायें भी होती थी । उन्होने तीन शिक्षिकाओं का उल्लेख किया है । गार्गी वाचक्नवी , वऽवा प्रातिरथेयी व सुलभा मैत्रेयी।[73] पाणिनि काल में भी स्त्री शिक्षिकायें होती थी अतः उन्होने अध्यायन कार्य करने वाली स्त्री को " आचार्या " और " उपाध्याया " नाम दिया है ।[74] गोभिल गृह्यसूत्र और काठक गृह्यसूत्र से ज्ञात होता है कि बहुएँ पढी–लिखी होती थी और वेदमत्रों का उच्चारण करती थी ।[75] यह सिद्ध करता हैं कि सूत्रकाल में भी स्त्रियाँ शिक्षित होती थी और वेदपाठ करती थीं ।

किन्तु स्मृति काल आते–आते स्त्रियों की दशा में हर क्षेत्र में अधोगति हुई , स्त्रियों को शूद्रों की श्रेणी में रखा गया और उन्हें वेद आदि के अध्ययन से वंचित कर दिया गया । मनु , गौतम आदि ने स्त्रियों को अस्वतन्त्र माना है ।[76] मनु के अनुसार स्त्रियों के संस्कार मंत्रहीन हैं , केवल विवाह संस्कार में मन्त्र पाठ कर सकती हैं।[77] इसके विपरीत बृद्धहारीत और भृगु स्मृति में स्त्रियों और शूद्रों के उपनयन और वेदाध्ययन की व्यवस्था की गयी है। वृद्धहारीत का कथन है कि जो भी सदाचार , सुशीलता आदि गुणों से युक्त है वे सभी ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य , शूद्र और स्त्रियाँ मन्त्र पाठ के

---

[72] वृह0 उप0 2.4.1 , 3.6.8
[73] आश्व0 3.4
[74] इन्द्र वरूण0 अष्टा0 4.149 की व्याख्या
[75] काठक 25.23 , गोभिल 2.1.1.9–20
[76] मनु0 9.3 , गौतम 18.1
[77] मनु0 2.66–67

अधिकारी हैं ।[78] भृगु का कथन है कि बालक और बालिकाओं का भी उपनयन पांच वर्ष की अवस्था में होना चाहिये और उन्हे वेदाध्ययन करना चाहिये ।[79] भृगु ने स्पष्ट किया है कि बिना अध्ययन के स्त्री और शूद्र को भी ज्ञान नहीं हो सकता । ज्ञान के अभाव में मुक्ति संभव नहीं है अतः स्त्री और शूद्रों को भी मुक्ति के लिये ज्ञान की पूरी व्यवस्था होनी चाहिये ।[80] इस प्रकार स्मृति काल में स्त्री शिक्षा के अधिकार के सम्बन्ध में मिश्रित विवरण प्राप्त होता है । एक ओर जहाँ मनु व गौतम आदि स्त्रियों को वेद–मंत्र पाठ के लिये अनुपयुक्त मानते है वहीं दूसरी ओर वृद्धहारीत और भृगु उन्हें पूर्णता व मुक्ति हेतु यह अधिकार प्रदान करते है । किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में स्त्रियों की स्थिति जैसी वैदिक काल में थी , वैसी स्मृतिकाल में नही रही ।

स्त्रियों का उपनयन :– स्मृतिकाल में स्त्रियों का उपनयन होता था अथवा नहीं , इस सम्बन्ध में स्मृतिकारों में मतभेद है । स्मृति तत्व के अनुसार स्त्रियाँ दो प्रकार की है – 1. ब्रह्मवादिनी या ज्ञानिनी व 2. सद्योवध – जो सीधे विवाह कर लेती है , इनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों को उपनयन करना , अग्निहोत्र करना , वेदाध्ययन करना अपने ही घर में भिक्षाटन करना पडता था , किन्तु सद्यो वधू को का विवाह के समय उपनयन कर दिया जाता था।[81] गोभिल गृह्य सूत्र के अनुसार लडकियों को उपनयन के प्रतीक के रूप में यज्ञोपवीत धारण करना पड़ता था ।[82] हारीत के अनुसार मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पूर्व ही स्त्रियों का सम्तवर्तन हो जाना चाहिये ।[83] हारीत के अनुसार ब्रह्मवादिनी नारियों का उपनयन गर्भाधान के आठवें वर्ष होता था , वे वेदाध्ययन करती थी और उनका छात्रा जीवन रजस्वला होने के पूर्व समाप्त हो जाता था ।

यम का कथन है कि प्राचीन काल में मूँज की मेखला बांधना (उपनयन) स्त्रियों के लिये भी एक नियम था । उन्हे वेद पढाया जाता था । वे गायत्री मन्त्र का उच्चारण

---

[78] वृ0हारी0 3.6

[79] भृगु 3.40–43 , 10.1–15

[80] न पत्युः सेवयामुक्तिर्भवेज्ज्ञानैकहेतुका।
न विनाऽध्ययनं ज्ञानं , भवेत् स्त्री शूद्रपुत्रयोंः । भृगु0 10.15

[81] संस्कार तत्व ,पृ0 896

[82] गौभिल ग्रह्य सूत्र 2.1.19

[83] प्रागजसः समावर्तनम् इति हारीतोक्त्या । संस्कार प्रकाश पृ0 404

करती थी । उन्हे अपने पिता , चाचा अथवा भाई द्वारा पढाया जा सकता था । अन्य कोई बाहरी पुरूष नहीं पढा सकते थे । वे घर में ही मिक्षाटन कर सकती थीं । उन्हें मृगचर्म , बलकल , वस्त्र नहीं पहनना पड़ता था और न वे जटाएं रखती थीं ।[84] भृगु ने व्यवस्था दी थी कि बालक – बालिकाएं पाँच साल की अवस्था में यज्ञोपवीत धारण कर वेद पढ़ें । पिता बालक और बालिकाओं को पाँच वर्ष की अवस्था में वेद वेदांग पढ़ने के लिये गुरूकुलों में भेज दें ।[85]

भृगु के अनुसार रजस्वला समय में पति सम्पर्क अवस्था में स्त्रियॉ वेद न पढें। दूसरे समय में वेद पढ़ सकती है ।[86] स्त्रियाँ 15 वर्षो तक गुरूकुलों में पढें और शादी के बाद अपने पति से पढ़ सकती है।[87] मनु के अनुसार स्त्रियों के सभी संस्कार यथासमय बिना मन्त्रों के करने चाहिये ।[88] व्यास के अनुसार भी स्त्रियों के सभी संस्कार बिना मन्त्रों के करने चाहिये । विवाह संस्कार वेदोक्त मंत्रों से होना चाहिये ।[89] याज्ञवलक्य के अनुसार भी स्त्रियों के सभी संस्कार बिना मन्त्रों के होना चाहिए ।[90] केवल विवाह संस्कार मन्त्रों से होता है । मनु का कथन है कि स्त्रियों का विवाह ही यज्ञोपवीत है पति सेवा ही गुरूकुल निवास है और गृहकार्य ही अग्निहोत्र है ।[91]

स्त्रियों के विशेषाधिकार :–

प्राचीन काल में स्त्रियाँ पुरूषों के समान ही अधिकार सम्पन्न थीं किन्तु कतिपय स्थितियों में नारियों को विशेषाधिकार प्राप्त थे । वे सामान्य अधिकारों के साथ–साथ

---

[84] पुराकाले...........जटाधारणमेव च । संस्कार प्रकाश पृ0 402–403
[85] भृगु 3.40–43
[86] भृगु 3.41
[87] भृगु 10.2
[88] मनु0 2.66
[89] व्यास0 1.15–16
[90] याज्ञ0 1.13
[91] मनु0 2.67

विशेष प्रकार के अधिकारों का भी उपभोग करती थी। ये विशेषधिकार प्रायः सभी वर्ण की स्त्रियों को प्राप्त था । स्त्रियों को प्राप्त प्रमुख विशेषाधिकार निम्न थे –

1. शुद्धि के विषय में – शुद्ध होने के लिये आचमन एक शास्त्रीय विधान है । सभी द्विजो को पवित्र होने के लिये तीन बार आचमन करना आवश्यक है किन्तु नारी और शूद्र केवल एक बार आचमन करने से ही शुद्ध हो जाते हैं।[92] द्विज को प्रथमतः तीन बार जलाचमन करना आवश्यक है तथा दो बार मुँह पोछना भी शारीरिक शुद्धि के लिये अनिवार्य विधान है किन्तु स्त्रियों को एक बार ही जल से आचमन करने की आवश्यकता है – " देहस्य शुद्धिमिच्छ न्प्रथमं वारत्रमयमपों भक्षयेत । ततो द्विर्मुखं परिमृज्यात् । स्त्रीशुद्रश्चैक वारमाचमनार्थ मुदकं भक्षयेत्।[93] इससे स्पष्ट होता है कि जिस शुद्धि के लिये पुरूष वर्ग को तीन बार आचमन करना पड़ता था उसी के लिये स्त्रियों को एक बार ही आचमन करने का विशेषाधिकार था । इस प्रकार का विशेषाधिकार पुरूषों को नहीं प्राप्त था।

2. पवित्रता सम्बन्धी विशेषाधिकार :– भारतीय शास्त्रकारों की दृष्टि में स्त्रियाँ परम सम्मान और श्रद्धा का विषय हैं । स्मृतियों में नारी को हर स्थिति में पवित्र माना गया है । याज्ञवलक्य ने स्त्रियों की पवित्रता को प्रबल मान्यता दी है । स्त्रियों के अन्दर पवित्रता ,मधुरता और पवित्र होने की शक्ति दैव प्रदत्त है । इसीलिये कहा गया है कि सोम देवता ने नारी को पवित्रता दी , गन्धर्व ने मधुर वाणी दी और अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति दी।[94] अर्थात परिणय के पूर्व ही सोम, गन्धर्व और अग्नि ने स्त्री को यथाक्रम से पवित्रता , मधुरता सर्वमेध्यता दे दी है। स्त्रियों को प्राप्त पवित्रता सोम देव का वरदान है तथा अग्नि के पास सभी चीजों को पवित्र करने की जैसी शक्ति होती है वैसी ही शक्ति स्त्रियों को भी प्राप्त है ।

---

[92] त्रिराचामेदयः पूर्व द्वि प्रभूज्यात्ततो मुखम् । शरीरं शौचभिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ।। मनुस्मृति 5.139

[93] मन्वर्थ 3.139

[94] अपस्तम्ब स्मृति 2.3

याज्ञवलक्य के समान ही पराशर ने भी स्त्रियों की शाश्वत पवित्रता को मान्यता प्रदान की है उनके अनुसार निर्दोष , निरन्तर बहने वाली जलधारा, वायु से उडाये गये धूलकणों , स्त्रियों, वृद्ध और बालक कभी दूषित नहीं होते है ।

अदुष्टा सन्तता धारा वातोद्धुताश्च रेणवः ।
स्त्रियों बृद्धाश्च बालाश्च न दुष्यन्ति कदाचन ।।[95]

यह श्लोक एक प्रकार से स्त्रियों की पवित्रता का प्रमाण पत्र ही प्रस्तुत करता है । शास्त्र प्रदत्त यह सुविधा स्त्रियों के लिये एक प्रकार का विशेषाधिकार है ।

आपस्तम्ब ने भी पराशर के विचारों का समर्थन करते हुए स्त्रियों की पवित्रता को प्रमाणित किया है । उनके विचार में भी स्त्रियाँ कदापि दूषित नहीं होती हैं ।

न दूष्येत् सन्तता धारा वातोद् धूताश्च रेणव : ।
स्त्रियों वृद्धाश्च बालाश्च न दुष्यन्ति कदाचन ।।[96]

अपने बात के समर्थन में पवित्र वस्तुओं की सूची देते हुए ऋषि ने आगे भी कहा है कि अपनी श्य्या , वस्त्र , पत्नी , सन्तान और जलपात्र ये सब अपने ही शुद्ध होते हैं , दूसरों के नहीं –

आत्माश्य्यात तु वस्त्रंच जायापत्यं कमण्डलु ।
आत्मनः शुचिरेतानि परेषामशुचीनि तु ।।[97]

अत्रि ने तो इस सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि स्त्रियों को पवित्रता अग्नि से मिली है और स्त्रियाँ अग्नि के समान पवित्र भी होती है । " पावकः सर्वमेध्य च मेध्यं वै योषितां सदा" ।[98] यहां अत्रि के एक अन्य वचन के ऊपर भी विचार करना आवश्यक है कि श्राद्ध , यज्ञ , विवाह में सदा पत्नी दक्षिण की ओर बैठती है । चन्द्रमा ,गन्धर्व और

[95] पराशर स्मृति 7.38
[96] आपस्तम्ब स्मृति 2.3
[97] आपस्तम्ब स्मृति 2.4
[98] अत्रि संहिता 140

बृहस्पति ने उन स्त्रियों को शौच प्रदान किया है ।[99] पत्नी के लिये वामा या वामाद्धिनी शब्द का प्रयोग प्रचलित है । किन्तु श्राद्धादि महत्वपूर्ण अवसरों पर वह पति के दक्षिण भाग में बैठती है । इससे दो बाते स्पष्ट होती हैं – एक तो यह कि उसे प्राचीन काल में श्राद्ध , यज्ञ विवाह आदि कर्मों में सहभागी होने का अधिकार था । दूसरे यह स्त्रियों के पवित्रता और महत्वों को सिद्ध करता है । शरीर का दक्षिण भाग परम्परा से श्रेष्ठता को प्राप्त है अतः विशिष्ट अवसरों पर पुरूष के दक्षिण बैठना स्त्री की श्रेष्ठता को सिद्ध करता है । वास्तव में स्मृति परम्परा में महिलाओं की पवित्रता सर्वमान्य तथ्य है । इस पवित्रता का विधान ही नारी समाज का विशेषाधिकार है ।

3. मुण्डन न करने का अधिकार :– शास्त्रों में विभिन्न दोषों के निवारणार्थ नानाविध प्रायश्चितों का विधान मिलता है । इसी के अन्तर्गत मूल–कृच्छ का विधान यह है कि सिर के सम्पूर्ण केश का मुण्डन कराकर उपासनादि कर्म करना चाहिये – " मूले सर्व माचरेत " ।[100] यह एक सामान्य कृच्छ विधान है । किन्तु लघुयम स्मृति के अनुसार स्त्री का मुण्डन नहीं करना चाहिये न ही उसे वीरासन की मुद्रा में बैठना चाहिये । उसे गोष्ठ में निवास नहीं करना चाहिये और वह चलती हुई गाय के पीछे भी न चलें –

न स्त्रियाँ वपनं कार्य न च वीरासनं तथा ।
न गोष्ठे निवासोऽस्ति न गच्छन्ती मनुवृजेत् ।।[101]

अर्थात पुरूष को मूलकृच्छ के सम्पादनार्थ सशिखा मुण्डन कराना चाहिये , वीरासन पर बैठकर ध्यान करना चाहियें , गोष्ठ में निवास तथा गायों के पीछे–पीछे चल कर भिक्षाटन करते हुए प्रायश्चित कर्म करना चाहिये। इस प्रकार के कष्टमय प्रयश्चित्तव का विधान पुरूषों के लिये तो है स्त्रियों के लिये नहीं । मिताक्षरा ने याज्ञवलक्य (पाठ/325) की व्याख्या में मनु के एक कथन की चर्चा की है जिसमें कहा गया है कि विद्वानों , विप्रों , राजाओं और स्त्रियों के विषय में सिर मुण्डन की बात ही नहीं उठती ।

---

[99] श्राद्धे यज्ञ विवाहे च पत्नी दक्षिणतः सदा ।
सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्वश्च तथांगिरा ।। अति संहिता 139

[100] लघुयम स्मृति 53

[101] लघु यम स्मृति 55

स्पष्ट है कि स्त्रियों का मुण्डन स्मृतिकारों के विधान में अस्वीकार्य है । स्त्रियों को इस विषय में विशेषाधिकार प्राप्त है ।

4. स्त्रियों को पुरूषों की अपेक्षा कमदण्ड :—

स्त्री पुरूष संबंधो के विषय में शास्त्रों में पर्याप्त विचार उपलब्ध हैं । पुरूष का पर स्त्री से तथा स्त्री का पर पुरूष से संबंध अनुचित एवं शास्त्र विरूद्ध है । यदि वे दोनो मना करने पर भी नहीं मानते हैं तो दोनों ही दण्ड के भागी होते हैं । यहॉ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि दोनो के वार्ता करने तक का निषेध किया गया है तथापि दोनो एक दूसरे से अवैध आलाप करते है तो पुरूष को दो सौ पण तथा स्त्री को मात्र सौ पण से दण्डित करना चाहिये ।[102] यहाँ यह विचारणीय है कि एक समान अपराध में स्त्री को पुरूष की अपेक्षा कम दण्ड देने की व्यवस्था है ।

5. स्त्री हत्या का पूर्ण निषेध — स्मृति काल में स्त्री हत्या का पूर्ण निषेध था । मनु ने स्पष्ट लिखा है कि स्त्रियों ब्राह्मणों और बच्चों की हत्या करने वाले को राजा की ओर से प्राणदण्ड मिलना चाहिये ।[103] इसी प्रकार का विचार महाभारत में भी उपलब्ध है — " अवध्या स्त्रिम इत्याहु धर्मज्ञा धर्मानिश्चिये "।[104] महाभारत में ही एक ऐसा निर्देश मिलता है कि चोर भी स्त्रियों की हत्या न करें ।[105] इस प्रकार प्राचीन शास्त्रों में ऐसे अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय शास्त्र स्त्री हत्या का परम् विरोधी है।

6. कर मुक्ति :— प्राचीन भारत में करों के सम्बन्ध में भी स्त्रियों को विशेषाधिकार प्राप्त था। सामान्यतया प्रजा अपनी आय का एक निश्चित भाग राजा को कर के रूप में देती थी ।। कुछ विशेष करों के सम्बन्ध में कुछ विशेष स्थितियों में स्त्रियों को विशेषाधिकार प्राप्त थे ।। नदी पार करते समय घाट कर देय होता था किन्तु मनु का

---

[102] याज्ञवलक्य स्मृति 2.285
[103] स्त्री वालब्राह्मणघ्नोश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा (म0स्मृ0 9.232)
[104] महाभारत आदिपर्व 158.31
[105] महाभारत शान्तिपर्व 135.14

कहना है कि दो मास से अधिक गर्भवाली स्त्री , सन्यासी ब्राह्मण और ब्रह्मचारी घाटकर से मुक्त होते हैं –

गार्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रवृजितो मुनिः
ब्राह्मणा लिङिनश्चैकं न दाप्यास्तारिकं तरे ।।[106]

उपर्युक्त श्लोक में वर्णित गर्भिणी , सन्यासी ब्राह्मण और ब्रह्मचारी ये सब गृहस्थ पर आश्रित होते हैं। अतएव इनसे कर न लेने का विधान किया गया है । विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार भी स्त्री , सन्यासी आदि से नाव का मूल्य नहीं लेना चाहिये ।[107] वशिष्ठ ने तो स्त्रियों को अकर भी कहा है । उनके अनुसार युवा अथवा तरूणी , बाला अथवा वृद्धा ये सब कर से मुक्त होती हैं –

" अकरः श्रेत्रियों राजापुमाननाथ
प्रबजितबाल वृद्धतरूण प्रजाताः ।। [108]

वास्तव में प्राचीन काल में स्त्रियाँ धन का उपार्जन नहीं करती थीं बल्कि घर में धन संग्रह व रक्षण करती थीं । अतः स्त्रियों के ऊपर किसी प्रकार का कर लगाना उचित नहीं था । इसीलिये स्मृतियों ने यह व्यवस्था दी है कि स्त्रियों को कर मुक्त रखा जाय। वशिष्ठ द्वारा प्रयुक्त अकरः शब्द स्त्रियों की सर्वथा कर मुक्ति का सूचक है – अर्थात स्त्रियाँ हर स्थिति में सभी प्रकार के करों से मुक्त थी ।

7. स्त्रीधन ग्रहण का निषेध :– स्त्री धन का उपयोग पुरूष को नहीं करना चाहिये – ऐसा प्राचीन शास्त्रों का विचार है । आपस्तम्ब ने कहा है कि स्त्रीधन का ज्ञानतः या अज्ञानताः उपभोग करने पर पुरूष महापाप का भागी होता है । साथ ही महापाप के प्रायश्चित सम्पादन से भी उसका निवारण नही होता है । आपस्तम्ब के अनुसार स्त्री के जो बान्धव , स्त्रीधन का उपयोग करते हैं तथा स्वर्ण, यान और वस्त्रों का उपयोग करते हैं वे पापी अधोगति को प्राप्त होते है ।

---

[106] मनुस्मृति 8.407
[107] विष्णु धर्म पूत्र 5.132
[108] वशिष्ट धर्म सूत्र 19.23

स्त्रीधनानि च ये मोद्यदुपजीवन्ति बान्धवाः ।

स्वर्ण यान्तनि वस्त्राणि ते पापा यान्त्यधोगतिम् ।।[109]

स्त्रीधन के उपभोग से ऐसे पाप मिलते है जिनकी कल्पना कर मनुष्य उसके उपभोग से विरत रहेगा। यह ऋषियों द्वारा प्रदत्त एक ऐसी धार्मिक व्यवस्था है जो स्त्रीधन की रक्षा कर सकती है और स्त्रीधन का उपभोग सम्बन्धित स्त्री के लिये सुरक्षित हो सकता है ।

******

[109] आपन्तम्ब स्मृति 9.26

षष्टम्–अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

भारतीय संस्कृति में स्मृतियों का अत्याधिक महत्व है। भारतीय संस्कृति में जिस प्रकार वेद संस्कृति के आधार ग्रन्थ है , उसी प्रकार स्मृतियाँ भी संस्कृति के आधार एवं प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। मनु का कथन है कि श्रुति वेद हैं और स्मृतियॉ धर्मशास्त्र हैं। इन दोनो से ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। सभी विषयों में इनकी प्रमाणिकता अकाट्य एवं असंदिग्ध है –

श्रुतिस्त वेदां विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।

ते सर्वार्थेष्वभीमांस्ये ताम्यां धर्मो हि निर्बभौ ।। मनु0 2.10

मनु ने वेदो के पश्चात स्मृतियों को ही धर्म का आधार माना है। मनु का यह भी मानना है कि जो वेदों और स्मृतियों में कहे गये धर्म का पालन करता है , उसे इस संसार में यश मिलता है और परलोक में अनुपम सुख प्राप्त होता है।

वास्तव में स्मृति ग्रन्थ भारतीय जीवन की आचार–संहिता है। मनुष्य के कर्तव्यों का इनमें विशद निर्देश है। एक के कर्तव्य दूसरे के अधिकार को मान्यता प्रदान करते हैं। स्मृतियों में अधिकारों ओर मानवाधिकारों की अवधारणा का यही आधार है । स्मृतियों में आज की तरह , अधिकारों की बात नहीं कही गई है , बल्कि विविध पक्षों के कर्तव्यों का उल्लेख़ अवश्य किया गया है । किन्तु इसका अर्थ कदापि नही है कि स्मृतियाँ इस विषय में मौन हैं । यहॉ अधिकारों की भावना को कर्तव्यों की चाशनी में लपेटकर परोसा गया है। एक सामान्य सा प्राकृतिक नियम हैं , "आप दूसरो के साथ वही व्यवहार करें जैसा दूसरों से स्वयं के लिये अपेक्षा करते हैं।" यदि सभी व्यक्ति इस सूत्र का पालन

करें तो अधिकारों के उल्लंघन अथवा उसकी मांग का कोई प्रश्न ही न उठे । स्मृतियाँ इसी सामान्य से मानव–धर्म की मांग करती हैं। जो मानवाधिकारों का प्रमुख आधार है।

पाश्चात्य जगत में अधिकारों की बात 13 वीं शताब्दी में मैग्नाकार्टा (1215) के साथ उभर कर सामने आती है। पेटीशन आफ राइट्स (1628), बिल आफ राइट्स (1689) व अमेरिकी संविधान में अधिकारों की घोषणा (1791) इस श्रृंखला में अन्य कड़ियों के रूप में जुड़ जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत मानवाधिकार का उद्‌भव प्रथव विश्वयुद्ध के पश्चात होता है। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति बुडरो विल्सन की "चौदह सूत्री " अवधारणा ने "व्यक्तिगत अधिकार" की सिफारिश की तो यूरोप ने नव–निर्मित राज्यों ने अल्पसंख्यकों के संरक्षण के प्रश्न पर "सामूहिक अधिकार" की मांग की । 1944 में डम्बर्टन आफ सम्मेलन में मानवाधिकार को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया । इसी अवधारणा के आधार पर 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा द्वारा इसी सार्वभौम घोषणा की गई , बाद में इसे संधि का स्वरूप देकर वैधानिक मान्यता दे दी गई।

इस प्रकार पाश्चात्य जगत में मानवाधिकार की अवधारणा का उदय सभ्यता के विकास का परिणाम है। पुरातन व प्रारम्भिक काल में इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलते हैं। दूसरी बात यहाँ मानवाधिकार दमन , अत्याचार ,शोषण व उत्पीड़न के विरूद्ध प्रतिक्रिया है। स्वाभाविक रूप से संस्कृति प्रदत्त अवधारणा अथवा संस्कृति का मौलिक रूप से हिस्सा नहीं है। व्यक्ति को राज्य के दमन व बर्बरता से मुक्त कराने के लिये सर्वप्रथम प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा अस्तित्व में आई । प्राकृतिक अधिकार क्रमशः सामाजिक , राजनीतिक , धार्मिक , व्यक्तिगत , सामूहिक अधिकार के रूप में विकसित होते गये ।

इसके विपरीत भारत में मानवाधिकार की अवधारणा भारतीय संस्कृति का मूल भाग है। यह दमन , अत्याचार अथवा उत्पीड़न के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में सभ्यता के साथ विकसित नहीं हुआ है बल्कि भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने जिनमें स्मृतियों का स्थान प्रमुख है , इसे भारत की समस्त व्यवस्थाओं के आधार "धर्म" के अन्तर्गत मूल

रूप में अपरिहार्य माना है। यद्यपि उन्होने स्पष्ट रूप से "मानवाधिकार" शब्द का उल्लेख नहीं किया है किन्तु " धर्म " के अन्तर्गत वह सब समाहित कर दिया है जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा से है । भारत में वैदिक काल से ही व्यक्ति और व्यक्ति का कल्याण महत्वपूर्ण रहे हैं। राज्य और राज्य के समस्त अभिरणों को इसी लक्ष्य के अनुरूप कार्य करना होता था। समूचा समाज एक इकाई के रूप में कार्य करता था और सब सबके कल्याण के उद्देश्य से पुरूषार्थ करते थे । वर्णाश्रम धर्म व चार पुरूषार्थों की व्यवस्था इन सबसे व्यक्ति का कल्याण व उससे सम्बद्ध विविध अधिकार ही ध्वनित होते थे।

पाश्चात्य देशों में मानवाधिकार को व्यापक मान्यता मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा के बाद से मिली। यहाँ मानवाधिकार को संरक्षण अन्तर्राष्ट्रीय दबाब का परिणाम है न कि सभ्यता व संस्कृति की देन। दास प्रथा के विरोध में नागरिक अधिकारों का निरंकुश राजतंत्र के विरोध में राजनीतिक अधिकारों का राज्य के हस्तक्षेप को आर्थिक मामलों में रोकने के उद्देश्य से आर्थिक अधिकारों का तथा नस्लभेद के विरूद्ध समता के अधिकार का जन्म हुआ। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से वैश्विक पर्यावरणीय खतरे को भांपते हुए सुरक्षित पर्यावरण के अधिकार की भी मांग होने लगी । किन्तु भारतीय ग्रन्थों में ये सभी अधिकार प्रारम्भ से ही विद्यमान थे। जीवन , स्वतंत्रता व सम्पत्ति के जिन अधिकारों को आज महत्त्व दिया जाता है वे वैदिक काल से भारतीय संस्कृति का भाग रहे हैं । ऋग्वेद के एक मंत्र (ऋग0 1/7/19/3) में स्पष्ट रूप से आराधन किया गया है कि हमारा वध कर अर्थात हमें अपना पूरा जीवन जीने दें , हमें अपने से दूर मत कर अर्थात तेरा संरक्षण हमें सदा प्राप्त हो हमे अपने श्रम से वंचित प्रिय योग्य पदार्थो से बंचित मत कर , हमारे जो पात्रादि हैं वे हमसे कोई न छीने आदि। स्मृतियों के काल तक आते–आते यह और भी स्पष्ट और विकसित रूप ले चुका था। राजा और राज्य के कर्तव्यों (धर्म) का सन्दर्भ व्यक्ति के अधिकारों की स्पष्ट झलक प्रदर्शित करता है।जहां तक पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न है प्राचीन भारतीय साहित्य , धर्म

एवं समस्त संस्कृति इस भावना से ओतप्रोत है। वृक्ष पूजा , नदी पूजा , तड़ाग पूजा ,जल पूजा , पशु पक्षियों की पूजा पर्यावरणीय चिन्ता का ही प्रतीक है।

प्राचीन भारत में मानवाधिकार मुख्यतः धर्म से सम्बन्धित रहा है। धर्म की अवधारणा बहुत व्यापक है। धर्म धारणात्मक नियमों की समुचित संज्ञा है। धर्म और जीवन का मेल भारतीय संस्कृति के आग्रह का विषय है। नित्य धर्म तत्व सम्प्रदाय या मत मतान्तर से ऊपर है। सर्वोपरि चैतन्य के धरातल के समकक्ष है। इसीलिये ऋतु , सत्य ,धर्म , ब्रह्म, चैतन्य अभिन्न हैं । चैतन्य पर व्यक्ति को बांधकर नहीं रखा जा सकता है धर्म कर्म के बिना अधूरा है। भारतीय चिन्तन में कर्म पर बल दिया गया है। जिस कर्म में ज्ञान का भाव नहीं है , वह स्वार्थ से सिक्त है। ज्ञान पूरित कर्म के बिना जीवन असम्भव है। कर्म ही योग है , जब वह सत्य पथ पर हो।

वस्तुतः धर्म शब्द किसी सम्प्रदाय या मत का प्रतीक नहीं है , अपितु यह जीवन की एक पद्धति या आचरण संहिता है। भारतीय धर्मशास्त्रों ने सद्नीतियों और मानवीय मूल्यों को प्राथमिकता दी गई है। दया ,शान्ति ,प्रेम ,अहिंसा ,त्याग ,अस्तेय ,शुचिता आदि धर्म के लक्षण हैं। मनु के अनुसार धर्म का सम्बन्ध लौकिक जीवन से है न कि पारलौकिक , इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति में पांच धर्मो के पालन का निर्देश दिया गया है – अहिंसा ,सत्य ,भाषण , अस्तेय व शौच । यहाँ धर्म मानव धर्म के रूप में विहित है और मानवाधिकार की अवधारणा इसी " मानव धर्म " पर आधारित है।

वर्तमान में मानवाधिकारों को हम प्रमुख रूप से सामाजिक और राजनीतिक दो वर्गों में रख सकते हैं। सामाजिक अधिकारों में मूल रूप से जीवन का अधिकार , स्वतंत्रतता का अधिकार , सम्पत्ति का अधिकार (आर्थिक अधिकार) ,समानता का अधिकार व शिक्षा का अधिकार आते हैं । राजनीतिक अधिकारों में मतदान का अधिकार , निर्वाचित होने का अधिकार और सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार सम्मिलित होता है। इस सम्बन्ध में जब हम स्मृतियों की ओर दृष्टिपात करते हैं , "धर्म " के परिवेश में ये सभी अधिकार किसी न किसी रूप में मानव के व्यक्तित्व व जीवन से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। वास्तव में स्मृतियों ने " धर्म " अर्थात कर्तव्यों पर विशेष बल

दिया है। ये कर्तव्य ही द्विपक्षीय अधिकारों की स्थिति स्पष्ट करते हैं। राजा के कर्तव्यों में प्रजा के अधिकार का भाव है और प्रजा के कर्तव्यों से राजा के अधिकारों का ज्ञान होता है।

स्मृतियों में जीवन के अधिकार को अपरोक्ष रूप से मान्यता प्रदान की गई है। प्रजा की सुरक्षा राजा का प्रमुख दायित्व था। राजा का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य था कि वह आन्तरिक तथा बाह्रय शत्रुओं से प्रजा के बहुमूल्य जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा सुनिश्चित करे। प्रजा रक्षण में असमर्थ राजा नरकगामी माना जाता था और उसे अपरिहार्य होने पर , स्मृतियों ने अपदस्थ करने का भी सुझाव दे डाला है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता ,विचार आदि व्यक्ति की स्वतंत्रता ,धार्मिक स्वतंत्रता तथा समुदाय निर्माण आदि की स्वतंत्रताओं पर जिन्हें आज की राजनीति में प्रमुख अधिकार माना जाता है ,कोई प्रतिबंध दृष्टिगोचर नहीं होता जिसका अर्थयह है कि ये स्वतंत्रतायें न्यूनाधिक लोगों को प्राप्त थी।

समानता के अधिकार के सम्बन्ध में स्मृतिकालीन समाज की स्थिति संदिग्ध है। वैदिक समाज अवश्य समानता के सिद्धान्तों पर आधारित समाज के होने का दावा कर सकता है । किन्तु स्मृतियों में एक प्रकार के सामाजिक स्तरीकरण की भावना परिलक्षित होती है जिसमें ब्राह्मण श्रेष्ठ तथा अनेक विशेषाधिकारों व उन्मुक्तियों से युक्त है व शूद्र सबसे निचले पायदान पर स्थित अनेक सुविधाओं से वंचित है। वास्तव में शूद्रों को जीवित रहने के अधिकार के अलावा अन्य समस्त अधिकार भी नहीं प्राप्त थे जिनसे वह अपने व्यक्तित्व का समग्र विकास कर सके , जैसे शिक्षा का अधिकार । इस सम्बन्ध में भी वैदिक समाज समानता का दावा कर सकता है , जहाँ योग्यता और गुणों के आधार पर स्त्री–पुरूष सभी को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। स्मृतियों में ब्राह्मण ,क्षत्रिय और वैश्य के लिये स्पष्ट रूपेण शिक्षा की व्यवस्था थी ।शूद्रों को इस ज्ञान लाभ से वंचित ही रखा गया था। यही स्थिति स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में भी है। शूद्र और स्त्री शिक्षा के अधिकारी है अथवा नहीं , इस विषय पर स्मृतिकारों में मतैक्य नहीं है ।

आज जिन अधिकारों को राजनीतिक अधिकारों के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है , वे स्मृतिकालीन राजनीतिक व्यवस्था में महत्वहीन थे । वास्तव में निर्वाचित करने (मत देने) और निर्वाचित होने का अधिकार आज सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार है। स्मृतियों में राजतंत्रीय शासन व्यवस्था को ही शासन के आदर्श रूप में स्वीकार किया गया है जिसमें शीर्ष पद या तो वंशानुगत आधार पर प्राप्त होते थे अथवा उन पर नियुक्ति की जाती थी । पूर्व वैदिक काल में अवश्य राजा के निर्वाचन के संकेत मिलते हैं किन्तु उत्तर वैदिक काल से ही राजपद के वंशानुगत आधार के उल्लेख मिलने लगते हैं। मंत्रीगण योग्यता एवं गुणों के आधार पर नियुक्त होते थे। कभी–कभी मंत्रीपद वंशानुगत आधार पर भी प्राप्त होता था। किन्तु अधिकांशतया योग्यता की परीक्षा के बाद गुणी लोगों को मंत्री पद पर नियुक्त किया जाता था। उच्च लोगों को मंत्री पद पर नियुक्त किया जाता था । उच्च सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति होता था , यदि उसमें तत्सम्बन्धी पद के लिये अपेक्षित अर्हतायें विद्यमान हों । इस प्रकार लोगों की राजनीतिक गतिविधियों में सहभागिता सीमित ही थी ।

स्मृतियों में अर्थ और आर्थिक मामलों पर भी सम्यक विचार किया गया है। आचारशास्त्री स्मृतिकार एकमत् से अर्थ के शुद्ध उपार्जन पर बल देते हैं । उन्होनें कर्म के आधार पर अर्थ के तीन प्रकार बताए – शुक्ल , शबल , और कृष्ण अर्थ । उनके अनुसार जैसा अर्थ होता है , उसके उपभोग का वैसा ही फल होता है। धनागम के सात साधनों का भी उल्लेख कर उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है।

स्मृतिकारों ने चारो वर्णो की अलग–अलग वृत्तियों का विधान किया। विभिन्न वर्ण एक दूसरे की अर्थकारी वृत्तियॉ न ग्रहण करें , इस बात पर विशेष बल दिया गया है। स्मृतिकार मानते थे कि यदि ऐसा होता है तो वर्ण–व्यवस्था का मूल उद्देश्य नष्ट हो जायेगा। यज्ञ ,ज्ञानार्जन और ज्ञानदान करना बाह्मण को की वृत्तियाँ बताई गई। आपात काल में ही ब्राह्मण अन्य वृत्तियॉ ग्रहण करने की अनुमति प्रदान की गई। क्षत्रिय की वृत्ति बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं से राज्य तथा जन समुदाय की सुरक्षा करना है।

वैश्य की वृत्ति कृषि व्यापार तथा पशुपालन है। शूद्र की वृत्ति अन्य वर्णो की सेवा बताया गया है।

वर्तमान काल की ही भाँति स्मृतिकाल में भी कृषि और विभिन्न उद्योग–धन्धे अर्थोपार्जन के साधन थे। कृषि कर्म के ही प्रसंग में पशुपालन का भी उल्लेख है । स्मृतिकारों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय पशुपालन कृषि से कम विकसित उद्योग नहीं था । गौ–पालन धार्मिक और आर्थिक दोनो दृष्टियों से महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था । मनु आदि ने चरागाह के लिये पर्याप्त भू–भाग सुनिश्चित करने का निर्देश दिया है।

स्मृतियों में श्रमिकों और शिल्पों के सम्बन्ध में भी विधान किया गया है । श्रमिकों को कुशल और अकुशल दो वर्गो में विभक्त किया गया है। कुशल श्रमिक के अन्तर्गत सुवर्णकार ,कुव्यकार , सूत्रकार ,काष्ठशिल्पी , पाषाण शिल्पी , चर्मकार , गृहकार , देवगृहकार , नर्तक तथा गायक आदि की गणना की गई है। इनके श्रम का मूल्य अधिक बताया गया है। अकुशल अथवा सामान्य श्रमिक भृत्य को कहा गया है। नारद स्मृति में विशेष रूप से इस सम्बन्ध में नियम प्राप्त होते हैं। इन्हें तीन श्रेणियों में रखा गया – उत्तम अर्थात शस्त्र धारण करने वाले , मध्यम , कृषि कार्य करने वाले , और अधम अर्थात बोझा ढ़ोने वाले । भृत्य की श्रेणी में दास भी आते थे । स्मृतियों में इन भृत्यों को मजदूरी से सम्बन्धित निमय प्राप्त होते हैं।

स्मृतियों में प्राप्त विवरण से ज्ञात होता है कि कृषि , पशुपालन और शिल्पकारी के साथ ही अनेक प्रकार के व्यापार और वाणिज्य का भी विकास स्मृतिकाल में हो चुका था । मनु ने जीवन यापन , के जिन साधनों का उल्लेख किया है , व्यापार उनमें छठे क्रम में है। व्यापारिक कार्य वैश्यों की वृत्ति थी । आपत्ति काल में ब्राह्मण व क्षत्रिय भी यह कार्य कर सकते थे। व्यापारियों द्वारा बाहर से लाई गई वस्तुओं की बिक्री पर अलग–अलग कर विधान थे। निषिद्ध वस्तुओं की विक्री पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी । उचित मूल्य से अधिक मूल्य पर बेचना भी दण्डनीय था। मूल्य निर्धारण का कार्य

राजकीय अधिकारियों द्वारा होता था। सामान्यजन को आर्थिक शोषण से बचाने के उपाय किये जाते थे।

राजकीय कार्य के लिये विविध प्रकार के कर लगाने का प्रावधान था ,जैसे – बलि ,शुल्क , दण्ड(अर्थदण्ड) ,संतरण कर , पशुकर , श्रमजीवियों एवं शिल्पियों पर कर तथा आकर । इन समस्त करों को एक निर्धारित मात्रा ही वसूला जाता था। जैसे कृषि उपज का छठा अंश , पशु के व्यापार पर लाभ का पचासवाँ भाग आदि । शिल्पियों व श्रमिकों से कर अर्थ के रूप में न लेकर बेगार के रूप में लिया जाता था । कर ग्रहण के लिये कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त निर्धारित थे। राजा अपने कोष की बृद्धि व संचय इन्ही सिद्धान्तों के आधार पर करता था। राजकीय कर संग्रह का उद्देश्य उसे प्रजा के कल्याण कार्य पर व्यय करना था। राजा प्रजा को विपत्तियों से बचाता है तथा उसका जीवन स्तर ऊंचा उठाने व उसे समृद्ध करने का प्रयत्न करता है।

स्मृतियों में स्पष्ट रूप से व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया गया है। इतना ही नहीं सम्पत्ति के उत्तराधिकार व परिवार में उसके बंटवारे के लिये भी सुनिश्चित नियमों का प्रावधान किया गया है। सम्पत्ति के अर्जन का तरीका उचित होना चाहिये । अनुचित तरीके से अर्जित सम्पत्ति की निन्दा की गई है।

मानवाधिकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है – जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का अधिकार । यह अधिकार व्यक्ति के अन्य अनेक अधिकारों का आधार है ,जिसके अभाव में अन्य अधिकारों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने इस पक्ष पर विशेष ध्यान देते हुए व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा पर ध्यान केन्द्रित किया है। जब तक व्यक्ति के जीवन व सम्पत्ति के लिये आन्तरिक रूप से चोर ,डाकुओं और दुष्टजनों से तथा बाह्रय रूप से विदेशी आकमण से खतरा रहेगा व्यक्ति ,समाज व राष्ट्र समुचित विकास नहीं कर सकते । अस्तु इन आन्तरिक व बाह्रय शत्रुओं के खतरे का समय रहते निराकरण अनिवार्य हो जाता है।

स्मृतियों में आन्तरिक उपद्रवियों से निपटने के लिये अनेक संगठनों तथा उपायों का संधान किया गया है। दसँ गांव ,बीस गावँ ,सौ गाव तथा हजार गावों के ऊपर

बनाये जाने वाले संगठनात्मक ढॉचे इस प्रकार की प्रवृत्तियों का निराकरण करने का प्रयास करते थे । राज्य की सेना ,पुलिस ,कानून , न्यायालय तथा दण्ड व्यवस्था ,गुप्तचर प्रणाली आदि इस उद्देश्य से राज्य के अभिकरणों के रूप में कार्यरत रहते थे। दुष्ट एवं अपराधी प्रवृत्तियों का दमन कर सज्जनों की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्तव्य माना गया था।

इसी प्रकार बाह्य आकमण से प्रजा तथा राष्ट्र की रक्षा राज्य व राजा का प्रमुख दायित्व था। बाह्य आकमण से सुरक्षा के उद्देश्य से राजा के लिये अनेक आदर्शों तथा अनेक उपायों के अवलम्बन की बात कही गई है। राजा से अपेक्षा की गई है कि वह राष्ट्र की रक्षा के उद्देश्य से युद्ध में रत हो । युद्ध में प्राण त्याग करने से उसे सीधे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्मृतियों में विविध प्रकार के सैन्य विभागों – पैदल सेना , रथारोही ,अश्व सेना ,गज सेना व नाविक आदि का उल्लेख स्मृतिकारों की सुरक्षा से सम्बन्धित चिन्ता को स्पष्ट करता है।

राज्य की सुरक्षा के लिये राजा को मण्डल सिद्धान्त व षाड्गुण्य नीति के आधार पर विदेशों से सम्बन्ध व आचरण निर्धारित करने को कहा गया है। सुरक्षा के उद्देश्य से विविध अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण व संग्रह का सुझाव दिया गया है। राष्ट्र की सुरक्षा के सन्दर्भ में प्राचीन काल में दुर्गो का अत्याधिक महत्व होता था , इस कारण राजा से अपेक्षा की गई है कि वह विविध प्रकार के दुर्गो से राष्ट्र को सज्जित कर सुरक्षित करे। इन दुर्गों में प्रमुख है – धम्वदुर्ग ,महीदुर्ग , जलदुर्ग ,वृक्षदुर्ग ,नृदुर्ग व गिरिदुर्ग आदि । इसके अतिरिक्त युद्ध में विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की व्यूह रचनाओं को अपनाने का भी निर्देश दिया गया है , जैसे दण्डव्यूह , शंकरव्यूह , बराहव्यूह ; मकरव्यूह , सूचीव्यूह आदि । ये व्यवस्थायें इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं कि स्मृतिकार प्रजा और राज्य की सुरक्षा के प्रति अत्याधिक सजग थे।

स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्मृतियों में नारी के अधिकारों और कर्तव्यों का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। स्मृतियों में नारी को गृहस्थ का आधार माना गया है। गृहणी को ही गृह कहा गया है। स्त्री को लक्ष्मी मानकर उसे सदा सन्तुष्ट

रखने का आदेश दिया गया है। जहां स्त्रियों का सम्मान होता है वहां देवताओं का वास बताया गया है। स्त्री को प्रसन्न रखने से श्रीबृद्धि और असन्तुष्ट रखने से कुलनाश की बात कही गई है। स्त्री को प्रसन्न रखने से आयु ,धन ,सन्तान और यश की प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है।

स्मृतियों में स्त्रियों को बलिवैश्वदेव यज्ञ व पितृयज्ञ का अधिकारी बताया गया है। बौधायन ने पति पत्नी दोनो को यज्ञ करने का आदेश दिया है और उन्हे ऋत्विज के समान माना है। पराशर स्मृति ने मासिक धर्म के तीन दिनों में स्त्री की यज्ञ न करने का आदेश दिया है। वह चौथे दिन शुद्ध होकर देवयज्ञ व पितृयज्ञ कर सकती थी । बृद्ध हारीत ने भी स्पष्ट रूप से स्त्री को यज्ञ करने और मन्त्रों का जप करने का विधान किया है। लघु व्यास संहिता का आदेश है कि पति की आज्ञा प्राप्त करके स्त्री विधिवत यज्ञ करे। पति से अपेक्षा की गई है कि वह पत्नी के साथ ही यज्ञादि धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करेगा।

स्मृतियों में नारी शिक्षा का भी विधान है । मृगु स्मृति ने विशेष रूप से स्त्रियों की शिक्षा और उनके वेदाध्ययन करने का उल्लेख किया है। पाँच वर्ष की आयु से ही उनकी शिक्षा का निर्देश है किन्तु जिस प्रकार से स्त्री शिक्षा वैदिक काल में उन्नत अवस्था में थी , उस प्रकार की स्थिति स्मृतिकाल में नहीं रही । स्मृतियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि स्मृतिकाल में शिक्षा के सम्बन्ध में स्त्रियों की दशा में अवनति हुई , इस सम्बन्ध में स्त्रियों को शूद्रां की श्रेणी में रखा गया । मनु व गौतम आदि ने स्त्रियों को अस्वतंत्र माना है। मनु ने स्त्रियों को संस्कारहीन तथा मन्त्रहीन कहा है । किन्तु मृगु का मत इसके विपरीत है, उनका मानना है कि बालिकाओं का यज्ञोपवीत भी पांच वर्ष की आयु में करवाकर गुरूकुल भेज देना चाहिये। बिना अध्ययन के स्त्री और शूद्र को भी ज्ञान नहीं होता । ज्ञान के अभाव में मुक्ति असम्भव है , अतः स्त्री और शूद्रों को भी युक्ति के लिये ज्ञान की पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। इस प्रकार स्त्रियों की शिक्षा के अधिकार के सम्बन्ध में स्मृतिकारों में मतैक्य नहीं है।

स्मृतियों में स्त्रियों को पूज्य ,पवित्र एवं उनके मुख को पवित्र माना गया है। स्मृतियों ने स्त्रियों को अनेक विशेषाधिकारों से सुसज्जित किया है। स्त्रियों को पैतृक सम्पत्ति में भी अधिकार प्राप्त था। स्त्री–धन की भी व्यवस्था थी । पति की सम्पत्ति में पत्नी को और पिता की सम्पत्ति में पुत्री को अधिकार प्राप्त था। राजनीति में स्त्रियों को विशेष अधिकार प्राप्त नहीं थे।

इस प्रकार स्मृतियों में मानवाधिकारों की चर्चा धर्म के एक अभिन्न तंत्र के रूप में हुई है। यद्यपि आयुनिक अधिकारों की भाँति स्मृतियाँ अधिकारों का वर्गीकरण नहीं करती किन्तु भावनात्मक व सैद्धान्तिक रूप से वे अधिकाँश अधिकार स्मृतियों में विद्यमान है जिन्हे आज मानवाधिकारों की श्रेणी में रखा जाता है। वास्तव में यहाँ अधिकारों की तुलना में कर्तव्यों को प्रधानता दी गई है और इन्हीं कर्तव्यों से अधिकारों का प्रवाह होता है। स्मृतियों में मानवाधिकार नकारात्मक रूप से राज्य के ऊपर प्रतिबन्ध के रूप में न होकर सकारात्मक रूप से राज्य और राजा को प्रजाहित में दिये गये कर्तव्यात्मक निर्देशों के रूप में है। स्मृतियों में मानवाधिकार की अवधारणा अदृश्य रूप में निहित है , आवश्यकता इस बात की है कि हम उन्हें अपने विवेक दृष्टि से देखें और पहचान सकें।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

सन्दर्भ – ग्रन्थ

(क) संस्कृत–ग्रन्थ

१. अग्निपुराण – आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज , पूना, सन् १६०० ई० ।

२. अथर्ववेद संहिता – सायण भाष्य ,निर्णय सागर प्रेस ,बम्बई , १८६५ ई० ।

३. अथर्ववेद संहिता – सुबोध भाष्य–श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ,स्वाध्यायमंडल ,पारडी , १६५८ ई०।

४. अथर्ववेद संहिता – स्वाध्याय मण्डल ,औंध , १६४३ ई०।

५. अथर्ववेद भाषाभाष्य – क्षेमकरण दास , दयानन्द संस्थान , दिल्ली ,सं० २०३१ ।

६. अमरकोष – अमर सिंह – निर्णय सागर प्रेस , बम्बई , १६४० ई०

७. अष्टादश स्मृति – अनुवादक – भारतबन्धु यन्त्रालय ,अलीगढ़ , प्रथम सं० १८६१ ई० (अत्रि,विष्णु, हारीत , औशनस ,आंगिरस , यम , आपस्तम्ब , संवर्त , कात्यायन , बृहस्पति ,पाराशर ,व्यास ,लिखित, शंख ,दक्ष ,गौतम , शातातप और वसिष्ठ)।

८. आङिंगरस स्मृति – ए०एन० कृष्ण अय्यंगर – अड्यार लाइब्रेरी , मद्रास १६५३ ।

६. ईशोपनिषद् – निर्णय सागर प्रेस ,बम्बई , १६३२।

१०. ऋग्वेद संहिता – स्वाध्याय मण्डल , औंध , १६४०।

११. ऋग्वेद संहिता – हिन्दी भाष्य – स्वामी दयानन्द ,दयानन्द संस्थान ,दिल्ली भाग–१ , १६७३ ई० ,भाग – २,२०३२ संवत् ।

१२. ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य) – भाग १ से ५ , वैदिक संशोधन मण्डल पूना ,भाग–१ सन् १६७२ ,भाग–२ सन् १६७६ , भाग–३ सन् १६६८ ,भाग–४ सन् १६४६ , भाग–५ सन् १६५१ ।

१३. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका , स्वामी दयानन्द सरस्वती ,अजमेर ।

१४. ऐतरेय आरण्यक – संपा० कीथ– आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस – १६०६।

१५. ऐतरेय ब्राह्मण – सायण भाष्य , आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज , पूना १६३१।

१६. गीता (श्रीमद्भगवद्गीता) गीता प्रेस ,गोरखपुर संवत् २०३६।

१७. छान्दोग्यउपनिषद् – निर्णय सागर प्रेस , बम्बई १६३२।

१८. तैत्तिरीय संहिता – स्वाध्याय मण्डल , पारडी , १६५७।

१६. दैवत संहिता (भाग १–३) , स्वाध्याय मण्डल औंध ।

२०. धर्मशास्त्र संग्रह - खेमराज श्रीकृष्ण दास , बम्बई १६१३।

२१. पराशर धर्म संहिता - वामन शास्त्री स्लापपुरकर (भाग १-३) भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट ,पूना । (भाग-१ , सन् १८६३ , भाग-२ , १८६८ भाग-३-१६११ , १६१६)।

२२. पराशर स्मृति (हिन्दी अनुवाद) अनु० श्री वासुदेव ,चौखम्बा संस्कृत सीरीज , वाराणसी , प्रथम संस्करण १६६८ ।

२३. बीस स्मृतियां (भाग-१-२) श्रीराम शर्मा ,संस्कृति संस्थान , बरेली, भाग १-२ द्वितीय संस्करण १६६८।

२४. बृहदारण्यक उपनिषद् , निर्णय सागर प्रेस बम्बई १६३२।

२५. बृहस्पति स्मृति - रंगस्वामी आयंगर , गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज , बडौदा । प्रथम सं० १६४१।

२६. भागवत पुराण - गीताप्रेस , गोरखपुर ।

२७. भृगुस्मृति - अनु० श्रीकृष्णानन्द ब्रह्मचारी , जय भारत प्रेस वाराणसी १६७४।

२८. मनुस्मृति - मेधातिथि भाष्य - मनुसुखराय मोर , कलकत्ता , पूर्वार्द्ध १६६७ , उत्तरार्ध १६७१।

२६. मनुस्मृति - हिन्दी अनु० - श्री हरिगोविन्द शास्त्री , चौखम्बा सीरीज आफिस , वाराणसी , चतुर्थ संस्करण १६७६ ।

३०. मनुस्मृति - अनु० स्वामी दर्शनानन्द , मुरादाबाद सं० १६८४ ।

३१. महाभारत - हिन्दी अनु० राम नारायण दत्त शास्त्री , गीता प्रेस ,गोरखपुर (भाग १ से ६)

३२. महाभारत परिचय - जानकीनाथ शर्मा - गीता प्रेस , गोरखपुर २०१६ संवत् ।

३३. महाभारत शान्ति पर्व - अनु० श्रीपाद दामोदर सातवेलकर , स्वाध्याय मण्डल , औंध १६२६।

३४. यजुर्वेद संहिता भाष्य - स्वामी दयानन्द , अजमेर सं० १६८६ ।

३५. यजुर्वेद संहिता - संस्कृत भाष्य उव्वट महीधर , निर्णय सागर प्रेस , बम्बई ।

३६. याज्ञवल्क्य स्मृति - मिताक्षरा सहित - दुर्गा प्रसाद , लखनऊ १८६० ।

३७. याज्ञवल्क्य स्मृति - मिताक्षरासहित - हिन्दी अनु० डा० उमेश चन्द्र पाण्डेय , चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस , वाराणसी , प्रथम सं० १६६७ ।

३८. याज्ञवल्क्य स्मृति - मिताक्षरा - व्याख्या बालंभट्टी श्रीकर विश्वरूप , श्री नारायण राम आचार्य , निर्णय सागर प्रेस , बम्बई १६४६ ई० ।

३६. याज्ञवल्क्य स्मृति - मिताक्षरा -अनु० सहित-महिरचन्द्र -खेमराज श्रीकृष्णदास , बम्बई १८६७ ।

४०. रामायण - वाल्मीकि - संपा० -द्वारका प्रसाद शर्मा - रामनारायण लाल बेनी माधव , इलाहाबाद भाग १ से ६ ।

४१. रामायण - निर्णय सागर प्रेस , बम्बई १६२६ ।

४२. विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् (खण्ड ३ भाग -१) संपा० प्रियबालाशाह गा० ओ० सी० ,बड़ौदा १६५८।

४३. विष्णु पुराण - गीता प्रेस , गोरखपुर १६३३ ।

४४. वैदिक कोश - डा० सूर्य कान्त -वैदिक रिसर्च समिति - का०हि० वि०वि० वाराणसी १६६३।

४५. शतपथ ब्राह्मण - सायण भाष्य-सत्यव्रत सामश्रमी । कलकत्ता १६०३ , ११ ।

४६. वैदिक पदानुक्रम कोश (भाग १ से १६) विश्वबन्धु - विश्वेश्रवरा-नन्द वैदिक शोध संस्थान , होशियारपुर ।

४७. सामवेद संहिता - स्वाध्याय मण्डल , औंध , सं० १६६६ ।

४८. स्मृति चन्द्रिका (भाग १ से ३) वेदाभट्ट विरचित - जगन्नाथ रघुनाथ , धामपुर , बम्बई १६१८।

४६. स्मृति प्रकाश - सं० निहाल चन्द्र राय , मुजफ्फरनगर , सन् १८६० ।

५०. स्मृतानां समुच्चयः - आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि (२७ स्मृतियाँ) - विनायक गणेश आम्टे - आनन्दाश्रम मुद्रणालय , पूना द्वितीय सं० १६२० ।

५१. स्मृति सन्दर्भ - सं० मनसुखराय मोर , कलकत्ता (भाग-१ सन् १६५२ , १. मनुस्मृति २. नारदीयमनुस्मृति ३. अत्रिसंहिता ४. अत्रि स्मृति ५. प्रथम विष्णु स्मृति ६. विष्णु स्मृति ७. संवर्त स्मृति ८. दक्ष स्मृति ६. आंगिरस स्मृति १०. शातातप स्मृति) , (भाग-२ सन् १६५२ , ११. पराशर स्मृति, १२. बृहत्पराशर स्मृति १३. लघुहारीत स्मृति, १४. बृद्ध हारित स्मृति), (भाग-३ सन् १६५२), १५. याज्ञवल्क्य स्मृति, १६. कात्यायन स्मृति, १७. आपस्तम्ब स्मृति, १८. लघुशंख स्मृति, १६. लिखित संहिता, २०. लिखित स्मृति, २१. शंखलिखित स्मृति, २२. वसिष्ठ स्मृति, २३. औशनस संहिता, २४. औशनस स्मृति, २५. बृहस्पति स्मृति, २६. लघुव्यास संहिता, २७. वेदव्यास स्मृति, २८. देवलस्मृति, २६. प्रजापतिस्मृति, ३०. लघु आश्वलायन स्मृति, ३१. बौधायन स्मृति , (भाग-४ सन् १६५३) , ३२. गौतम स्मृति, ३३. बृद्धगौतम स्मृति, ३४. यम स्मृति, ३५. लघुयम स्मृति, ३६. बृहद् यम स्मृति, ३७. अरूण स्मृति, ३८. पुलस्त्य स्मृति, ३६. बुध स्मृति, ४०. वसिष्ठ स्मृति-२ , ४१. बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति, ४२. ब्रह्मोक्त, याज्ञवल्क्य संहिता, ४३. काश्यप स्मृति, ४४. व्याघ्रपद स्मृति)।

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

१. अग्रवाल , वासुदेवशरण , पार्णिनि कालीन भारत वर्ष , वाराणसी वि० २०१२ ।

२. अग्रवाल एन० , भारतीय अर्थव्यवस्था , विकास पब्लिशिंग हाउस , नई दिल्ली ,१६८०।

३. अल्टेकर , अनन्त सदाशिव , प्राचीन भारतीय शासन पद्धति , भारती भण्डार , इलाहाबाद , वि० २०३३ ।

४. आर्य , प्रतिभा , स्मृतियों में राजनीति और अर्थशास्त्र , विश्वभारती अनुसंधान परिषद् , ज्ञानपुर ,१६८७ ।

५. आर्य , प्रतिभा , स्मृतियों में नारी , विश्वभारती अनुसन्धान परिषद् , ज्ञानपुर १६८६ ।

६. उपाध्याय , रामजी , प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति , इलाहाबाद , १९६३ ।

७. उपाध्याय , बलदेव , वैदिक साहित्य और संस्कृति , वाराणसी १९५८ ।

८. उपाध्याय ,बलदेव , संस्कृत साहित्य का इतिहास , वाराणसी १९७३ ।

९. कुजूर , एस०,वेद और धर्मशास्त्र में नारी , विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी ।

१०. कीथ ,ए०वी० संस्कृत साहित्य का इतिहास , मोतीलाल बनारसी दास , दिल्ली १९६०।

११. गोयनका ,जयदयाल , नारीधर्म , गीताप्रेस ,गोरखपुर , संवत २०३० ।

१२. घिल्डियाल , अच्युतानन्द , प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक , वाराणसी १९७२ ।

१३. जायसवाल , के०पी० , हिन्दू राजशास्त्र , नागरी प्राचारिणी सभा , काशी सं० २०१२।

१४. ठाकुर लक्ष्मीदत्त , प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन , हिन्दी समिति , लखनऊ ,१९६५।

१५. ठाकुर , आद्यादत्त , वेदों में भारतीय संस्कृति , हिन्दी समिति उ०प्र० लखनऊ १९६७।

१६. द्विवेदी , डॉ० कपिलदेव , अथर्ववेद कालीन संस्कृति , विश्वभारती अनुसंधान परिषद , ज्ञानपुर १९८७ ।

१७. द्विवेदी , डॉ कपिलदेव , संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास , साहित्य संस्थान , इलाहाबाद , प्रथम संस्करण।

१८. द्विवेदी , डॉ कपिलदेव , वेदों में राजनीति , विश्वभारती अनुसंधान परिषद ।

१९. दीक्षित ,डॉ० प्रेम कुमारी , रामायण में राज्य व्यवस्था , अर्चना प्रकाशन लखनऊ १९७१ ।

२०. निगम , एन०ए० ,भारतीय संस्कृति की कुछ अवधारणायें , हिन्दी अनु० ,राधाकृष्ण प्रकाशन , नई दिल्ली ,१९७९ ।

२१. नाहर , रविभानु सिंह , प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास , किताब महल , इलहाबाद ,१९७१ ।

२२. पाण्डेय ,राजबली ,हिन्दू संस्कार , वाराणसी ।

२३. पाण्डेय , डॉ० विमल चन्द्र , प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास , सेन्ट्रल बुक डिपो , इलाहाबाद १९७५ ।

२४. पाण्डेय डॉ० श्याम लाल , वैदिक कालीन राज्य व्यवस्था , हिन्दी समिति , लखनऊ ,१९७१।

२५. मुखर्जी , डॉ० राधाकुमुद , हिन्दू सभ्यता ,अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल , राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली ।

२६. मिश्र, डॉ० जयशंकर , प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास , बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी , पटना द्वितीय संस्करण ।

२७. मिश्र, डॉ० कौशल किशोर , मनुस्मृति में राजतंत्र , संकट मोचन , फाउन्डेशन , अस्सी वाराणसी ।

२८. मिश्र, डॉ० कौशल किशोर एवं डा० ज्योति सिंह , भारतीय संस्कृति में मानवाधिकार , मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन , वाराणसी ,२००३ ।

२६. राव , विजय बहादुर , उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति , वाराणसी , १६६६ ।

३०. लूनिया , बी०एन०, प्राचीन भारतीय संस्कृति , लक्ष्मीनारायण अग्रवाल , आगरा , १६७२।

३१. लल्लन जी गौतम , प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा , विश्वविद्यालय प्रकाशन , वाराणसी , १६६६।

३२. वर्मा , रामचन्द्र , हिन्दू राजतंत्र (दो खण्ड) अनु० नागरी प्रचारिणी सभा १६६६ ।

३३. डा० वामन राणे , धर्मशास्त्र का इतिहास , अनु० अर्जुन चौबे , कश्यप , हिन्दी समिति उ०प्र० ,लखनऊ भाग-१ सन् १६८० , भाग-२ सन् १६७३ , भाग-३ सन् १६७५ , भाग-४ सन् १६७३ , भाग-५ सन् १६७३ ।

३४. वी०वरदाचार्य , संस्कृत साहित्य का इतिहास , अनु० डॉ० कपिलदेव द्विवेदी , रामनारायण लाल , इलाहाबाद ।

३५. सातवलेकर , पारडी , वेदों में दर्शाये विविध प्रकार के राज्य शासन ,।

३६. सातवलेकर , पारडी , वैदिक अर्थव्यवस्था।

३७. सातवलेकर , पारडी , वैदिक राष्ट्रशासन ।

३८. सातवलेकर , पारडी , वैदिक समय की राज्य शासन व्यवस्था ।

३६. स्वामी दयानन्द ,सत्यार्थ प्रकाश , सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा , दिल्ली ।

४०. सक्सेना , डॉ० आर०सी०, श्रम समस्यायें एवं समाज कल्याण , जय प्रकाश एण्ड कम्पनी , मेरठ १६६६ ।

४१. सिंह , डॉ० नरेन्द्रदेव , भारतीय संस्कृति का इतिहास , साहित्य भण्डार , मेरठ ,प्रथम संस्करण ।

४२. सिंह ,एस०पी०, विकास का अर्थशास्त्र , एस०चाँद एण्ड कम्पनी दिल्ली ।

४३. शास्त्री ,डॉ० हरिदत्त , भारतीय साहित्य और संस्कृति , मुंशीराम मनोहरलाल , नई दिल्ली , १६५६ ।

४४. शास्त्री ,मंगल सिंह , भारतीय संस्कृतिक विकास ,वैदिक धारा , वाराणसी , १६५६ ।

ENGLISH BOOK

1. Achrya ,N.C. : Kulluka On Manu , 1946.
2. Acharya ,P.K. : Glories of India , Allahabad , 1952
3. Achyattan ,M. : Educational practices in Manu, Panini and Kautilya , Trivandram, 1974
4. AgrwalV.S. : India as Known to Panini, Lucknow 1953.
5. Aiyangar ,K.V.R. : Aspect of Hindu view of life, According to Dharmasastra, Baroda , 1952.
6. Aiyangar,K.V.R. : Some aspect of Ancient Indian polity, Madras 1936 .
7. Aiyangar, K.V.R. : Rajdharma , Madras , 1941.
8. Alan , R.White : Rights, Clarendon Press, Oxford University, New York , 1985.
9. Altekar ,A.S. : Education in Ancient India, Indian Book Shop, Banars 1934.
10. Altakar ,A.S. : State and Government in Ancient India, Banaras, 1949.
11. Altakar , A.S. : Sources of Hindu Dharma in its Socio-Religious , Aspects Sholapur, 1952.
12. Aristrotle : The Politics ,Tr. by Earnest Barker revisedby R.F. Stalley ,Oxford University Press, 1995
13. Aurobindo : The spirit and form of Indian Polity, Pondicherry,1966
14. Bandopadhyay ,N.C. : Development of Hindu Polity and Political Theory , Calcutta, 1927.

15. Banerjee, S.C. : Aspects of Political Life From® nskrit Sources ,Calcutta, 1972.

16. Banerjee ,S.C. : Dharmasastras ,A Studies in their origin and development ,Calcutta, 1962.

17. Belvalkar ,S.K. : The origin and function of the state- According to the Rajdharm Parvan ,Annals of Bhandarkar Oriental Research , Institute , Poona, Vol.XXIX , 1998.

18. Berlin, I. : Two concepts of liberty ,Oxford University, 1958

19. Bhandarkar,D.R. : Some Aspect of Ancient Hindu Polity ,Banaras,1929

20. Bhargava, M.B.L. : Civic life in India, Lucknow, 1944

21. Bhargava, P.L. : India in the vedic Age, Lucknow, 1956

22. Beni Prasad, : State in Ancient India, Allahabad, 1928

23. Bleomfield,M, : Atharveda, Starasburg , 1899

24. Bloomfield ,M, : Religion of the veda, Newyork , 1908.

25. Bose,S.B. : The Hindu concept of Government ,Modern, Review Vol XIX , 1906

26. Charles , Villa Vicancio : A Theology of Reconstruction Nation Building and Human Rights.

27. Choudhary .R.K. : Ancient Indian Law and Justice , Motilal Benarasi Das , 1953.

28. Cranston Maurice : What are Human Rights ? London , 1962.

29.Crindle ,Jone W,Mo. : Ancient India as discribed in clamical literature- Munshiram Manohar Lal New Delhi , 1979.

30. Das, S.K. : Rig-Vadic India, Calcutta, 1921.

31. Dhawan G.N. : The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, Navjivan Publishing House, New Delhi, 1991.

32. Diecey ,A.V. : An Introduction of the Study of Law of the Constutition 9th Ed. Macmillan Co. London.1952

33. Dutta, B.N. : Studies in Indian Social Polity Calcutta, 1944.

34. Dutta, N.K. : Origin and Growth of Caste in Ancient India. Calcutta , 1971

35. Fennis , J.M. : Natural Law and Natural Rights , Oxford University New York . 1980

36. Foresyth, C.F. : Human Rights , Juta and Company.
Schiller. J.F : Pub. Capetown. 1979

37. Ghosal ,U.N. : Studies in Indian History and Culture, Orient Longmas Calcutta, 1957.

38. Ghosal , U.N. : A History of Acnient Indian Political Ideas , Bombay , 1959.

39. Ghosal ,U.N. : The Relation of Dharma Concept to the social and political order in Brahmanical Canonical Thought J.B.R.S. Vol. XXXVIII, Pt. 1.

40. Ghosal ,U.N. : A History of Hindu. Political The Men, 1923

41. Ghosal ,U.N. : A History of Indian Public life , Vol –2, Oxford University Press, 1966.

42. Goswami,Jaya : Cultural History of India, Agam Kala Pra Kashan, I.Edn.

43. Ghurya, G.S. : Vadic Age, Bombay.

44. Gode. P.K. : Critical Studies in the Mahabharat Bombay , 1944.

45. Golding , M.P. : Towards a Theory of Human Rights, Chicago, 1968

46. Green, T.H. : Lecturer on the principles of political obligations LOngmans. Green and Co.London, 1955

47. Henkin, Louis. : The Rights of Man Today. The centre for the study of of Human Rights Columbia, University ,1988.

48. Hopkins,E.W. : Ethier of India, New Hawan , 1924.

49. Jayswal ,K.P. : Hindu Polity,Banglore Printing and Publishing Co.,Banglore City 1943.

50. Jenkins, Gredell : From Natural to Legal Human Rigths Poolack Erwin, H.Ledj, 1971.

51. Kangle,R.P. : Kautilya, Arthsastra, A Study,3pt. University of Bombay. 1965

52. Kane,P.N. : History of Dharmasastra, 5 vol. Bhandarkar Research Institute. Poona.

53. Katekar.S.V. : History of Caste in India, 1979.

54. Koshambi,D.D. : An Introduction to the study of Indian History Bombay , 1957.

55. Kaegi, Adolf, : Life in ancient India, Calcutta, 1950

56. Keay, F.E. : Ancient Indian Eduction , London .1905

57. Keith, A.B. : History of Sanskrit Literature, Oxford University Press, 1941

58. Laski, H.J. : Grammer of Politics, George Allan and ltd. 1941

59. Milne ,A.J.M. : Freedom and Rights ,London , 1968

60. Mill, J.S. : On Liberty, London, 1920

61. Mukherjee,S. : Some Aspect of Social Life in Ancient India , Delhi, 1976.

62. Majumdar ,R.C. : Advanced History of India, London. 1953

63. Majum Dar, R.C. : Ancient India, Varanasi. 1959

64. Mohan Chand,(Ed) : Ancient Indian Culture and liretature Estern Book Linkers , De!hi. 1980

65. Macdonell ,A.A. : Indian press , Motilal Banarsidas , 1956

66. Mackonell, A,A, : History of Sanskrit literature ,Delhi, 1958

67. Maxmullar,F. : The secred Book of the east, Vol.25 Oxford Press London. 1986

68.Mitra. DR.Priti : Life and societian the vedic age, Culcutta, Jedn.

69. Motwani ,Kewal , : Manu Dharm Shastra – A.S tudey Madras 1958.

70. Mukerjee, R.K. : History of education in Ancient India, Mac Millan & Co. London. 1940

71. Om Prakash : Political ideas of puranas, R.C. Publication 1978.

72. Pain, Thomas : Rights of Man, C.A. Wateson & Co. London 1954.

73. Robinson, N. : The Universal Declaration of Human Rights, insitute of Jewis Affairs world. Jewis congress Ney York.

74. Roshalwd,M. : The concept of Human Rights : Philosophy and Phenomenological Research , 1959

75. Roy. Raja Ram Mohan : English works, Panini Office, Allahabad,1906.

76. Sbine. G.H. : A History of Political Theory ,Henry Halt and Company ,New York 1973.

77. Sletore ,B.A. : Ancient Indian Political Thought and Institution Asia. Publications, 1971

78. Sharma Sstri. R.S. : Evolution of Indian Polity,Nag Publishers, Delhi, 1977

79. Sen Gupta ,N.C. : Evolution of Ancient Indian Law, Calcutta,1953.

80. Tripathi,R.S. : History of Ancient India, Banaras.

81. Theodor Meron(ed.) : Human Rights in International Law, Clarendon Press ,Oxford 1986.

82. UNESCO : Human Rights, Allan and Wingage London,1949.

83. Vassak, Karel : The international Dimensions of Human Rights Vol,I, Greenwood Press Amrica,1982.

84. Vierday ,E.W. : The concept of discrimination in international Law with special Reference to Human Rights,The Heauge. 1973.

85. Wai ,Dunston, M. : Human Rights cultural and ideological Prespectives New York , 1979

86. Winslade, W.J. : Human need and Human RightsAmnitahiled E.H. Pollock Buffalo. New York. 1971

87. Wintenit, M. : History of India val I Calcutta, 1927.

88. Zamin, M.Nadjati : Human Rights under the European convention.North.Holland Publishing Company Amsterdam. New York. 1978